विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

chakladar

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

वर्ष १[illegible]
अंक १

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

★ १९७८ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी चिन्मयचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क – १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म. प्र.)

फोन । २४५८९

अनुक्रमणिका

-।•।-

कवर चित्र परिचय – **स्वामी विवेकानन्द**

मुद्रणस्थल : **नरकेसरी प्रेस**, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १६] जनवरी–फरवरी–मार्च [अंक १
★ १९७८ ★

सर्वात्म-भाव—मुक्ति का हेतु

सर्वात्मना बन्धविमुक्ति हेतुः
सर्वात्मभावान्न परोऽस्ति कश्चित् ।
दृश्याग्रहे सत्युपपद्यतेऽसौ
सर्वात्मभावोऽस्य सदात्मनिष्ठया ।।

—संसार-बन्धन से सर्वथा मुक्त होने में सर्वात्म-भाव (सबको आत्मारूप देखने के भाव) से बढ़कर और कोई हेतु नहीं है। निरन्तर आत्मनिष्ठा में स्थित रहने से दृश्य का बाध होने पर इस सर्वात्म-भाव की प्राप्ति होती है।

—विवेकचूड़ामणि, ३४०

अग्नि-मंत्र

(स्वामी शुद्धानन्द को लिखित *)

अलमोड़ा,

कल्याणवरेषु--

अवागमं कुशलम् तत्रत्यानां वार्तञ्च सविशेषां तव पत्रिकायाम् । ममापि विशेषोऽस्ति शरीरस्य, शेषो ज्ञातव्यो भिषक्प्रवरस्य शशिभूषणस्य सकाशात् । ब्रह्मानन्देन संस्कृतया एव रीत्या चलत्वधुना शिक्षा, यदि पश्चात्परिवर्तनमर्हेत्तदपि कारयेत् । सर्वेषां सम्मतिं गृहीत्वा तु करणीयमिति न विस्मर्तव्यम् ।

अहमधुना अलमोड़ानगरस्य किञ्चिदुत्तरं कस्यचिद्वणिज उपवनोपदेशे निवसामि । सम्मुखे हिमशिखराणि हिमालयस्य प्रतिफलितदिवाकरकरः पिण्डीकृतरजत इव भान्ति प्रीणयन्ति च । अव्याहतवायुसेवनेन, मितेन भोजनेन, समधिकव्यायामसेवया च सुदृढं सुस्थञ्च सञ्जातं मे शरीरम् । योगानन्दः खलु समधिकमस्वस्थ इति शृणोमि, आमन्त्रयामि तमागन्तुमत्रैव । विभेत्यसौ पुनः पार्वत्याज्जलाद्वायोश्च । "उषित्वा कतिपयदिवसान्यत्रोपवने यदि न तावद्विशेषो व्याधेर्गच्छ त्वं कलिकाताम्" इत्यहमद्य तमलिखम् । यथाभिरुचि करिष्यति ।

---

*यह पत्र जून १८९७ के प्रथम भाग में स्वामी विवेकानन्द द्वारा अपने शिष्य स्वामी शुद्धानन्द को लिखा गया था । मूल पत्र संस्कृत में है, इसीलिए उसके महत्त्व को देख हम उसे यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं ।--सं०

अच्युतानन्दः प्रतिदिनं सायाह्ने अल्मोड़ानगर्यां गीतादिशास्त्रपाठं जनानाहुय करोति। बहूनां नगरवासिनां स्कन्धावारसैन्यानांच समागमोऽस्ति तत्र प्रत्यहम् सर्वानसौ प्रीणाति चेति शृणोमि। "यावानर्थ" इत्यादि श्लोकस्य यो बङ्गार्थस्त्वया लिखितो नासौ मन्यते समीचीनः। "सति जलप्लाविते उदपाने नास्ति अर्थः प्रयोजनम्" इत्यसावर्थः। विषमोऽयमुपन्यासः, किं संप्लुतोदके सति जीवानां तृष्णा विलुप्ता भवति ?

यद्येवं भवेत्प्राकृतिको नियमः, जलप्लाविते भूतले सति जलपानं निरर्थकं, केनचिदपि वायुमार्गेनाथवान्येन केनापि गूढेनोपायेन जीवानां तृष्णानिवारणं स्यात्, तदासावपूर्वोऽर्थः सार्थको भवितुमर्हेन्नान्यथा।

शंकर एवावलम्बनीयः। इयमपि भवितुमर्हति--

सर्वतः संप्लुतोदकेऽपि भूतले यावानुदपाने अथः तृष्णातुराणां (अल्पमात्रं जलमलं भवेदित्यर्थः),--"आस्तां तावज्जलराशिः, मम प्रयोजनम् स्वल्पेऽपि जले सिध्यति"— एवं विजानतो ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु अर्थः प्रयोजनम्। यथा संप्लुतोदके पानमात्रप्रयोजनम् तथा सर्वेषु वेदेषु ज्ञानमात्रप्रयोजनम्।

इयमपि व्याख्या अधिकतरं सन्निधिमापन्ना ग्रन्थकाराभिप्रायस्य--

उपप्लावितेऽपि भूतले, पानाय उपादेयं पानाय हितं जलमेव अन्विष्यन्ति लोका नान्यत्। नानाविधानि जलानि सन्ति भिन्नगुणधर्माणि, उपप्लावितेऽपि भूमेस्तारतम्यात्।

एवं विजानन् ब्राह्मणोऽपि विविधज्ञानोपप्लाविते वेदाख्ये शब्दसमुद्रे संसारतृष्णानिवारणार्थं तदेव गृह्णीयात् यदलं भवति निःश्रेयसाय। ब्रह्मज्ञानं हि तत्।

इति शं साशीर्वादं विवेकानन्दस्य

(हिन्दी अनुवाद)

प्रिय शुद्धानन्द,

तुम्हारे पत्र से यह जानकर कि वहाँ सब कुशलपूर्वक हैं, तथा अन्य सब समाचार विस्तारपूर्वक पढ़कर मुझे हर्ष हुआ। मैं भी अब पहले से अच्छा हूँ और शेष तुम्हें सब डॉ० शशिभूषण से मालूम हो जायगा। ब्रह्मानन्द द्वारा संशोधित पद्धति के अनुसार शिक्षा जैसी चल रही है, अभी वैसा ही चलने दो और भविष्य में यदि परिवर्तन की आवश्यकता हो तो कर लेना। परन्तु यह कभी न भूलना कि ऐसा सर्वसम्मति ही से होना चाहिए।

आजकल मैं एक व्यापारी के बाग में रह रहा हूँ, जो अलमोड़े से कुछ दूर उत्तर में है। हिमालय के हिम-शिखर मेरे सामने हैं, जो सूर्य के प्रकाश में रजत-राशि के समान आभासित होते हैं और हृदय को आनन्दित करते हैं। शुद्ध हवा, नियमानुसार भोजन और यथेष्ट व्यायाम करने से मेरा शरीर बलवान तथा स्वस्थ हो गया है। परन्तु मैंने सुना है कि योगानन्द बहुत बीमार है। मैं उसको यहाँ आने के लिए निमंत्रित कर रहा हूँ, परन्तु वह पहाड़ की हवा और पानी से डरता है। मैंने आज उसे यह लिखा है कि 'इस बाग में कुछ दिन आकर

रहो, और यदि रोग में कोई सुधार न हो तो तुम कलकत्ते चले जाना।' आगे उसकी इच्छा।

अल्मोड़ा में रोज शाम को अच्युतानन्द लोगों को एकत्र करता है और उन्हें गीता तथा अन्य शास्त्र पढ़कर सुनाता है। बहुत से नगरवासी और छावनी से सिपाही प्रतिदिन वहाँ आ जाते हैं। मैंने सुना है कि सब लोग उसकी प्रशंसा करते हैं।

'यावानर्थ....' इत्यादि श्लोक की जो तुमने बँगला में व्याख्या की है, वह मुझे ठीक नहीं मालूम पड़ती।

तुम्हारी व्याख्या इस प्रकार की है--'जब (पृथ्वी) जल से आप्लावित हो जाती है, तब पीने के पानी की क्या आवश्यकता ?'

यदि प्रकृति का ऐसा नियम हो कि पृथ्वी के जल से आप्लावित हो जाने पर पानी पीना व्यर्थ हो जाय, और यदि वायु-मार्ग से या किसी विशेष अथवा और किसी गुप्त रीति से लोगों की प्यास बुझ सके, तभी वह अद्भुत व्याख्या संगत हो सकती है, अन्यथा नहीं। तुम्हें श्री शंकराचार्य का अनुसरण करना चाहिए। या तुम इस प्रकार भी व्याख्या कर सकते हो:--

जैसे कि, जब बड़े बड़े भूमि-भाग जल से आप्लावित हुए रहते हैं, तब भी छोटे छोटे तालाब प्यासे मनुष्यों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं (अर्थात् उसके लिए

[1]यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ गीता,४६॥

थोड़ा सा जल भी पर्याप्त होता है और वह मानो कहता है, इस विपुल जल-राशि को रहने दो, मेरा काम थोड़े जल से ही चल जायगा)--इसी प्रकार विद्वान् ब्राह्मण के लिए सम्पूर्ण वेद उपयोगी होते हैं। जैसे भूमि के जल में डूबे हुए होने के बावजूद भी हमें केवल पानी पीने से मतलव है और कुछ नहीं, इसी प्रकार वेदों से हमारा अभिप्राय केवल ज्ञान की प्राप्ति से है।

एक और व्याख्या है, जिससे ग्रन्थकर्ता का अर्थ अधिक योग्य रीति से समझ में आता है:--

अव भूमि जल से आप्लावित होती है, तब भी लोग हितकर और पीने योग्य जल की ही खोज करते हैं, और दूसरे प्रकार के जल की नहीं। भूमि के पानी से आप्लावित होने पर भी उस पानी के अनेक भेद होते हैं, और उसमें भिन्न भिन्न गुण और धर्म पाये जाते हैं। वे भेद आश्रयभूत भूमि के गुण एवं प्रकृति के अनुसार होते हैं। इसी प्रकार बुद्धिमान ब्राह्मण भी अपनी संसार-तृष्णा को शान्त करने के लिए उस शब्द-समुद्र में से—जिसका नाम वेद है तथा जो अनेक प्रकार के ज्ञान-प्रवाहों से पूर्ण है--उसी धारा को खोजेगा, जो उसे मुक्ति के पथ में ले जाने के लिए समर्थ हो। और वह ज्ञान-प्रवाह ब्रह्मज्ञान ही है, जो ऐसा कर सकता है।

आशीर्वाद और शुभकामनाओं सहित,

तुम्हारा,

विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण के जीवन का एक दिन

(नये वर्ष के इस प्रथम अक से हम एक नयी लेखमाला प्रारम्भ कर रहे हैं। अव तक श्रीरामकृष्ण के चुटकुलों को पाठकों के सामने रखा गया। अब उनके जीवन की विशिष्ट घटनाओं को इस लेखमाला के अन्तर्गत प्रकाशित किया जायगा। जैसा कि शीर्षक ध्वनित करता है, वह विशिष्ट घटना उनके जीवन के किसी एक दिन घटित हुई होगी। इस लेखमाला का प्रारम्भ हम उस घटना से करते हैं, जो भक्तों को श्रीरामकृष्ण के कल्पतरुत्व का बोध कराती है।--सं०

श्रीरामकृष्ण गले की बीमारी से पीड़ित हैं। उन्हें कैंसर हो गया है। चिकित्सा के लिए भक्तगण उन्हें काशीपुर ले आये हैं। एक उद्यान-भवन किराये पर लिया गया है। खुली जगह है, श्रीरामकृष्ण को पसन्द आ गयी। श्यामपुकुर का मकान छोटा था। लगातार भक्तों का आवागमन देख मकान-मालिक कुड़कुड़ाता रहता था। अब किसी को शिकायत नहीं होगी। काशीपुर के इस उद्यान-भवन में श्रीरामकृष्ण २१ दिसम्बर १८८५ को आये। चिकित्सा तो पर्याप्त हो रही है, पर रोग पूरी तरह ठीक नहीं हो रहा है। कभी बढ़ जाता है, तो कभी कम हो जाता है। भक्तगण बड़े चिन्तित हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण की सम्मति ले कलकत्ता मेडिकल कालेज के प्रिंसिपल डा० कोट्स को बुलाया। वे आये और रोगी की पूरी परीक्षा कर रोग को असाध्य बताकर चले गये।

आज पहली जनवरी है--सन् १८८६ ई०। नये वर्ष का नया दिन होने से सब जगह छुट्टी है। अतः गृहस्थ भक्त दोपहर के बाद एक एक करके आ रहे हैं। बहुत

से भक्त दल बाँधकर भी आ रहे हैं। आज श्रीरामकृष्ण को कुछ अच्छा लग रहा है। उन्होंने नीचे उतरकर बगीचे में कुछ देर टहलने की इच्छा प्रकट की। लगभग ३ बजे अपराह्न को वे नीचे उतरे। तब तीस से भी अधिक भक्त उनके दर्शनों कें लिए आ चुके थे। कुछ कमरों में बैठें वार्तालाप कर रहे थे, तो कुछ उद्यान में वृक्षों की छाया-तले बैठे बातचीत में निमग्न थे। श्रीरामकृष्णदेव को नीचे उतरते देख कमरे में बैठे भक्तगण सम्भ्रमपूर्वक उठ खड़े हुए और उन्होंने श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया। श्रीरामकृष्ण सीढ़ी से उतरकर बड़े कमरे में आये और पश्चिमी दरवाजे से निकलकर बगीचे के रास्ते पर उतरे। फिर धीरे धीरे वे दक्षिण दिशा में फाटक की ओर चलने लगे। भक्तगण भी उनके पीछे पीछे, कुछ दूरी बनाकर, चलने लगे। जब वे भवन और फाटक के बीच में पहुँचे, तो पश्चिम की ओर के वृक्ष के नीचे उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष, रामचन्द्र दत्त, अतुल आदि कुछ भक्तों को देखा। इन भक्तों की दृष्टि भी ज्योंही उन पर पड़ी, उन्होंनें श्रीरामकृष्ण को वहीं से प्रणाम किया और आनन्दपूर्वक वे सब उनके पास आये। किसी के कुछ कहने से पहले ही श्रीरामकृष्ण नें अकस्मात् गिरीश को सम्बोधित करते हुए कहा, "गिरीश! तुम सबके पास यह जो इतनी बातें (मेरे अवतारत्व के सम्बन्ध में) कहते फिरते हो, तो तुमने भला (मेरे सम्बन्ध में) ऐसा क्या देखा और समझा है?"

श्रीरामकृष्ण के इस अप्रत्याशित प्रश्न से गिरीश तनिक भी विचलित न हुए। वे उनके चरणों के पास जमीन पर घुटनों के बल बैठ गये और ऊर्ध्वमुख हो हाथ जोड़कर गद्‌गद स्वर में कहने लगे, "व्यास-वाल्मीकि जिनकी महिमा नहीं गा सके, मुझ-जैसा क्षुद्र व्यक्ति उनके सम्बन्ध में क्या कह सकता है!" गिरीश ने यह बात इतनी आन्तरिकता से कही कि श्रीरामकृष्ण उनके सरल विश्वास से मुग्ध हो गये और उन्हें उपलक्ष कर समवेत भक्तों से बोल उठे, "तुम लोगों से और क्या कहूँ, आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हें चैतन्य हो!"

भक्तों के प्रति प्रेम और करुणा से आत्मविभोर हो श्रीरामकृष्ण बस ये शब्द कहकर ही भावाविष्ट हो गये। स्वार्थगन्धहीन इस देवपुरुष के अमोघ आशीर्वचन ने प्रत्येक हृदय को आनन्द से उद्वेलित कर दिया। वे लोग देश-काल भुला बैठे, श्रीरामकृष्ण के रोग की बात भी बिसरा बैठे, पहले की गयी अपनी वह प्रतिज्ञा भी भूल बैठे कि रोग के दूर न होते तक श्रीरामकृष्ण का स्पर्श नहीं करेंगे। वे तो साक्षात् अनुभव करने लगे कि उनके दुःख से व्यथित हो मानो कोई एक अपूर्व देवता अपना कोई प्रयोजन न होते हुए भी अपने हृदय मे अनन्त यातना और करुणा ले, माता के समान स्नेहांचल में आश्रय प्रदान करने के लिए देवलोक से सामने अवतीर्ण हो उन्हें प्रेम से पुकार रहा है। वे सब उन्हें प्रणाम करनें और उनके श्रीचरणों की रज ग्रहण करने के लिए व्याकुल हो उठे

और जय-जयकार से दसों दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए एक एक कर उन्हें प्रणाम करने लगे। इस प्रकार प्रणाम करते समय श्रीरामकृष्णदेव के करुणासिन्धु ने आज तट का अतिक्रमण कर दिया और एक अदृष्टपूर्व घटना संघटित हुई। किसी किसी भक्त के प्रति करुणा और प्रसन्नता से विभोर हो दिव्य शक्ति के पवित्र स्पर्श से उसे कृतार्थ करते श्रीरामकृष्णदेव को इससे पहले भी दक्षिणेश्वर में प्रायः प्रतिदिन देखा गया था, परन्तु आज तो अर्धबाह्यदशा में वे समवेत प्रत्येक भक्त को उसी प्रकार स्पर्श करने लगे। कहना न होगा, उनकी इस अपूर्व कृपा से भक्तों में आनन्द की सीमा न रही। वे लोग समझ गये कि आज से वे अपने देवत्व की बात केवल उन्हीं लोगों के निकट नहीं, बल्कि संसार में किसी के भी निकट अब छिपा नहीं रखेंगे। उन लोगों ने अपनी अपनी त्रुटि, अभाव और असमर्थता की ओर देखा--देखा कि फिर भी प्रभु ने अपने कृपा-वर्षण में कोई कसर न रखी, इसलिए उन्हें इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि अब से पापी-तापी सभी समान रूप से उनके श्रीअभय-चरणों में आश्रय लाभ करेंगे। कुछ तो इस अपूर्व घटना से इतने विमुग्ध हो गये कि अवाक् हो केवल प्रभु की ओर एकटक निहारते रहे। कोई कोई कमरे में बैठे भक्तों को प्रभु की यह कृपा प्राप्त कर धन्य होने के लिए चिल्लाकर बुलाने लगे और कोई कोई फूल चुनकर मंत्रोच्चारण करते हुए उनके शरीर पर चढ़ाकर

उनकी पूजा करने लगे। कुछ क्षण ऐसा होने के बाद श्रीरामकृष्णदेव को शान्त होते देख भक्तगण भी पहले की तरह प्रकृतिस्थ हुए और आज का उद्यान-भ्रमण यहीं पर समाप्त कर श्रीरामकृष्णदेव मकान में लौटे और अपने कमरे में जा बैठे।

कुछ भक्तों ने इस घटना को श्रीरामकृष्णदेव का 'कल्पतरु' होना कहकर निर्दिष्ट किया है। परन्तु उसे श्रीरामकृष्ण का 'आत्मप्रकाश पूर्वक सबको अभयदान' कहना ही अधिक युक्तियुक्त होगा। कारण यह है कि कल्पतरु से जो भी माँगा जाय--अच्छा या बुरा, वही मिलता है, पर श्रीरामकृष्णदेव ने वैसा नहीं किया। इस घटना के माध्यम से उन्होंने जनसाधारण को बिना किसी भेदभाव के अभयाश्रय प्रदान कर अपने देवमानवत्व का ही परिचय दिया है। जो व्यक्ति आज उनकी कृपा प्राप्त कर धन्य हुए थे, उनमें हाराणचन्द्र दास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बेलियाघाटा-निवासी हाराणचन्द्र कलकत्ते की फिंडले मेयर कम्पनी के आफिस में काम करते थे। उनके प्रणाम करते ही श्रीरामकृष्णदेव ने भावावेश में उनके सिर पर अपना चरणकमल स्थापित किया। इस प्रकार कृपा करते श्रीरामकृष्णदेव को बहुत कम ही देखा गया था। श्रीरामकृष्णदेव के भतीजे श्रीयुत रामलाल चट्टोपाध्याय उस दिन वहाँ उपस्थित थे और उनकी कृपा प्राप्त कर वे भी धन्य हुए थे। पूछने पर उन्होंने बताया था, "इससे पहले मैं इष्टमूर्ति का ध्यान

करते समय उनके श्रीअंग का कुछ अंश मात्र ही मानस-नेत्रों से देख पाता था। जब चरणकमल देखता, तब श्रीमुख नहीं दिखायी पड़ता था। फिर श्रीमुख से कमर तक दिखायी पड़ता था, तो चरणकमल नहीं दिखते थे। इस प्रकार मैं जो कुछ देखता, वह सजीव प्रतीत नहीं होता था। आज ठाकुर के स्पर्श से सर्वांगपूर्ण इष्टमूर्ति मेरे हृदयकमल में एकाएक आविर्भूत हो हिलते-डोलते झलमलाने लगी।"

आज की घटना के समय जो लोग उपस्थित थे, उनमें गिरीश, राम, अतुल, नवगोपाल, हरमोहन, बैकुण्ठ किशोरी (राय), हाराण, रामलाल और अक्षय प्रमुख थे। 'वचनामृत' के रचनाकार महेन्द्रनाथ 'म' भी सम्भवतः वहाँ उपस्थित थे। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-भक्तों में से एक भी उस समय वहाँ उपस्थित नहीं था। नरेन्द्रनाथ आदि अनेक भक्त श्रीरामकृष्णदेव की सेवा-परिचर्या के अतिरिक्त पिछली रात को बहुत देर तक साधन-भजन में नियुक्त रहने के कारण थक गये थे तथा कमरे में सो रहे थे। लाटू और शरत् जागे तो थे और वे श्रीरामकृष्ण देव के कमरे की दाहिनी ओर वाले दुमंजिले की छत से वह सारी घटना देख भी रहे थे, पर वे उनके कमरे की सफाई आदि में लगे थे तथा उनका बिस्तर धूप में डालकर ठीक कर रहे थे, इसलिए उनकी घटनास्थल पर जाने की इच्छा ही नहीं हुई।

उपस्थित व्यक्तियों में एक था वैकुण्ठनाथ। वह बहुत समय से श्रीरामकृष्णदेव के पास आता-जाता था। उसे उन्होंने मंत्र-दीक्षा देकर धन्य भी किया था। मंत्र लेने के दिन से वह साधन-भजन में नियुक्त रहकर इष्टदेवता के दर्शनलाभ के लिए यथासाध्य प्रयत्न करता था। श्रीरामकृष्णदेव की कृपा के बिना उस विषय में सफल-काम होना असम्भव समझकर वह बीच बीच में उनके निकट कातर प्रार्थना करता। तभी श्रीरामकृष्णदेव गले की व्याधि से पीड़ित हो गये और अन्त में चिकित्सा के लिए काशीपुर चले आये। इस बीच भी वैकुण्ठनाथ ने मौका पाकर दो-तीन वार श्रीरामकृष्णदेव के पास अपने मन की आकांक्षा व्यक्त की थी। तव उन्होंने प्रसन्नहास्य के साथ उसे सान्त्वना देते हुए कहा था, "ठहर न! मेरी बीमारी अच्छी हो जाय, उसके बाद तेरा सब कुछ कर दूँगा।"

आज की घटना में वैकुण्ठनाथ भी उपस्थित था। दो-तीन भक्तों को प्रभु के दिव्य स्पर्श से कृतार्थ होते देख वह भी उनके सामने आ खड़ा हुआ और भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हुए बोला, "महाराज! मुझ पर कृपा कीजिए।" श्रीरामकृष्णदेव ने कहा, "तेरा तो सब कुछ हो गया है।" वैकुण्ठ बोला, "जब आप कहते हैं हो गया है, तो निश्चय ही हो गया है, किन्तु मैं उसे थोड़ा-सा समझ सकूँ वैसा कर दीजिए।" इस पर श्रीरामकृष्णदेव ने 'अच्छा' कहकर वैकुण्ठ की छाती का स्पर्श किया।

उसके प्रभाव से उसके हृदय में एक अपूर्व भावान्तर उपस्थित हुआ। वैकुण्ठ ने एक समय इस अनुभूति की चर्चा करते हुए कहा था, "आकाश, मकान, पेड़-पौधे, मनुष्य आदि जिधर जो कुछ दिखायी पड़ता था, उसी के भीतर मैं ठाकुर की प्रसन्न, हास्य-दीप्त, उज्ज्वल मूर्ति देखने लगा। मैं प्रबल आनन्द से एकदम विभोर हो उठा और उस समय तुम लोगों को छत पर देखकर 'कौन कहाँ हो, अभी चले आओ' कहकर चिल्लाते हुए पुकारने लगा। कुछ दिनों तक जाग्रत् अवस्था में मुझमें उस प्रकार का भाव और दर्शन सदा विद्यमान रहता था। सभी पदार्थों के भीतर ठाकुर का पुण्यदर्शन प्राप्त कर मैं मुग्ध और आनन्दित रहने लगा। आफिस या दूसरे काम से कहीं जाने पर भी वैसे ही दृश्य दिखायी पड़ने लगे। इससे आवश्यक कार्यों में एकाग्र न हो सकने के कारण असुविधा होने लगी और कार्य में हानि होते देख उस दर्शन को बन्द करने की चेष्टा करने लगा, पर सफल न हुआ। अर्जुन ने भगवान् का विराट् स्वरूप देखकर भय के कारण उनसे पूर्वरूप में प्रकट होने की जो प्रार्थना की थी, उसका कुछ आभास मेरे हृदय में भी झलक पड़ा। मुक्त पुरुष सदा 'एकरस' होकर रहते हैं, इत्यादि शास्त्रवचनों का स्मरण होने से यह भी आभास इस घटना से लगा कि किस सीमा तक वासनारहित होने पर मन उस एकरस की अवस्था में रहने की सामर्थ्य लाभ करता है; क्योंकि कुछ दिन बीतने पर उस एक ही भाव, एक ही दर्शन,

एक ही चिन्तनप्रवाह को लेकर रहना मुझे कष्टप्रद मालूम होने लगा। कभी कभी मन में ऐसा भाव भी उठा कि मैं पागल तो न हो जाऊँगा ? तब ठाकुर के निकट भय के साथ मैं प्रार्थना करने लगा, 'प्रभो ! मैं आपका भाव धारण नहीं कर सका; जिससे वह दूर हो वही कीजिए।' हा ! मनुष्य कैसा दुर्बल और बुद्धिहीन है ! अब सोचता हूँ, क्यों मैंने वैसी प्रार्थना की थी ? उन पर पूर्ण विश्वास रखकर उस भाव की अन्तिम परिणति देखने के लिए मैंने क्यों धैर्य के साथ प्रतीक्षा नहीं की ? अधिक क्या होता——या तो पागल हो जाता या फिर शरीर का ही नाश होता ? पर उस प्रकार प्रार्थना करने के बाद ही वह दर्शन और भाव दोनों एकाएक एक दिन लुप्त हो गये। मेरी दृढ़ धारणा है कि जिनसे मुझे वह भाव प्राप्त हुआ था, उन्हीं के द्वारा वह शान्त भी हो गया। परन्तु उस दर्शन के एकदम विलय होने की प्रार्थना मेरे मन में उदित नहीं हुई थी, सम्भवतः इसी कारण उन्होंने कृपा करके उसका थोड़ासा अंश रख छोड़ा था। फलतः दिन में जब-तब कई बार उनके उस दिव्य भावोज्ज्वल प्रसन्न मूर्ति के अहैतुक दर्शनलाभ क आनन्द से मैं स्तम्भित और कृतार्थ होता रहता था।"

❀

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

माँ इस प्रकार आवश्यकतानुसार अपनी सन्तानों के खाने-पीने का विशेष प्रबन्ध करतीं अवश्य, किन्तु उनका यह कार्य दूसरों की आँखों की कहीं किरकिरी न हो उठे इस ओर विशेष सावधान भी रहतीं। माँ के घर भोजन का स्तर एक मध्यवित्त बंगाली परिवार के भोजनस्तर के समान था। सुबह मुरमुरा, दोपहर में साधारण चावल का भात, उड़द की दाल, एक रसेदार तरकारी, थोड़ी चटनी; कभी कोई हरी सब्जी या तली हुई सूखी तरकारी आदि। पहले माँ स्वयं भोजन बनाने और परोसने का काम करतीं। पर अब वह सम्भव न हो पाता। फिर भी सामने बैठ वे आदि से अन्त तक सब देखतीं——आसन, पत्तल, पानी आदि सब ठीक से और साफ-सुथरे ढंग से तो रखा है। ग्लास में पानी न तो कम हो, न अधिक। पत्तल ठीक आसन के सामने बीच में रखी हो। आसन न तो अधिक पास पास रखे जायँ, न ही अधिक दूर दूर——उनके बीच का अन्तर समान हो। परोसना हो रहा है, लड़कों के कानों में मधुर पुकार सुनायी पड़ी——'बेटे, समय हो गया, देर हो गयी, जल्दी आओ, भात परोसा जा चुका है, आओ खालो।' लड़कों को आने में थोड़ी देर हो रही है, हाथ का काम समाप्त किये बिना आ नहीं पा रहे हैं। माँ उनकी पत्तल अलग कर बैठे बैठे आँचल से मक्खी भगा रही हैं। खाना प्रारम्भ हुआ। माँ के मुख पर

आनन्द की आभा छिटक उठी। अत्यन्त स्नेह और अपनत्व से माँ लड़कों का खाना देख रही हैं तथा मधुर कण्ठ से पूछ रही हैं--'कैसा बना है ?' किसकी पत्तल में भात नहीं है, किसमें दाल कम है, किसकी किसमें रुचि है, यह सब देख-सुनकर आग्रहपूर्वक सबको भरपेट भोजन करा रही हैं। 'तुम थोड़ा भात ले लो', 'तुम थोड़ी दाल ले लो।' (रसोईदारिन से) 'ओ मौसी, लड़के की पत्तल में थोड़ा भात बचा है, उसे और कुछ दो,' 'इस लड़के को पोस्ता-वाली तरकारी बहुत पसन्द है, यदि हो तो थोड़ा दो।' किसी से कहती हैं, 'बेटा, आज तुमने कम क्यों खाया ? जो अच्छा लगे माँग लो, बोलो क्या लोगे ?' सभी का आहार एक समान नहीं होता, कोई कम खाता है तो कोई अधिक। पर माँ का स्नेह सब पर समान है।

किसी नवागन्तुक भक्त लड़के की हार्दिक इच्छा है कि वह माँ का प्रसाद पाये। माँ ने समझा-बुझाकर उसे पहले ही खिला दिया--कहा, 'अभी सबके साथ भरपेट भोजन कर लो। मुझे खाने में देर होती है। मैं तुम्हारे लिए प्रसाद रख दूँगी, बाद में पा लेना।' दोपहर में माँ थोड़ा दूध-भात भी खाती हैं। थोड़ी थोड़ी सभी तरकारी खाकर, माँ ने कटोरे के दूध में थोड़ा भात डाल उसे मसला, थोड़ा अपने मुँह में दिया और फिर प्रसादप्रार्थी को पुकारा। उसके आने पर माँ ने प्रसन्नमुद्रा में कहा, 'लो बेटे, प्रसाद माँग रहे थे न ! बैठकर आराम से खाओ।' लड़के के प्राण जुड़ाये, माँ को भी परम आनन्द हुआ।

रात में माँ के घर भोजन में रोटी-तरकारी, गुड़ और थोड़ा सा दूध रहता है। रोटी बहुत अच्छी बनती है। माँ अपने हाथों से आटा गूँदती हैं, देर तक गूँदकर आटे को खूब नरम कर लेती हैं। सन्ध्या के बाद ठाकुर को भोग लगा, वह भोग ठीक से ढककर अपने पास लेकर बैठी रहती हैं, जिससे ठण्डा न हो जाय। लड़के थोड़ी रात होने पर खाएँगे। सन्ध्या समय जप-ध्यान करेंगे, ठाकुर को पुकारेंगे, उनका स्मरण-मनन करेंगे। फिर, थोड़ी रात न हो तो भूख भी तो नहीं लगती, लड़के भरपेट खा नहीं पाते। इसीलिए माँ प्रतीक्षा कर रही हैं। राधू के एक बिल्ली है। वह खाने की चीजें चुपके से खा जाती है। इसीलिए माँ ने हाथ के पास छोटा सा डण्डा रख लिया है। दीपक टिमटिमा रहा है। ठाकुर को धूप दे प्रणाम कर, दिये की बत्ती कम कर माँ पैर फैलाकर दीवाल से टिककर चुपचाप बैठी हैं। कहाँ किस लोक में उनका मन विचरण कर रहा है वे ही जानें। सब कुछ निःस्तब्ध है।

किसी दिन सन्ध्या के थोड़ी देर बाद ही माँ बाहर बरामदे में जाकर बैठी हैं। भानु बुआ आयीं और अपना मिट्टी का छोटासा दिया बुझाकर, माँ के चरणों के पास बैठ पैरों को सहलाने लगीं। किसी दिन अधिक थकी होने कारण माँ बरामदे में चटाई पर लेट जाती हैं तथा किसी सन्तान से हाथ फेरनें को कहती हैं। किसी दिन घुटने में वात का दर्द बढ़ जाता है। तब स्नेहसिक्त स्वर में माँ

किसी सन्तान से कहती हैं—'बेटा, आज घुटने में बड़ा दर्द हो रहा है। लहसुन तेल गरम कर थोड़ा मालिश तो कर दो।' रात मे सबको थोड़ा थोड़ा दूध मिलता है। कम होने पर माँ थोड़ा पानी मिलाकर सबको पुरा देती हैं। कभी इतना कम हो जाय कि सबको दिया ही न जा सके, तब रोगी, वृद्ध और बच्चों को ही दूध मिलता है। थोड़ा अधिक रहने पर जिस सन्तान को दूध विशेष प्रिय होता, उसे भोजन के पश्चात् कमरे में बुलाकर चुप चुप पिला देतीं। उनका स्वयं का रात्रि-आहार अत्यन्त अल्प है—दो-एक लुची (पुड़ी) और दूध, और वह भी पूजनीय शरत् महाराज, योगेन-माँ, गोलाप-माँ तथा अन्यान्य आन्तरिक भक्तों के आग्रह से लिया करतीं। किन्तु जयरामवाटी में वह भी नियमित नहीं मिल पाता। भक्तों की चेष्टा से गाय खरीदी गयी है—पर्याप्त दूध देती है। आवश्यकतानुसार खरीदा भी जाता है। तो भी समय समय पर माँ के लिए दूध कम पड़ जाता है, क्योंकि माँ सबसे पहले दूसरों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए व्यग्र रहती हैं।

माँ के घर किसी दिन कोई सन्तान न आये, तो माँ को एक अभाव सताता, वे प्रतीक्षा करतीं, रास्ते की ओर देखा करतीं। आज उत्तरायण की संक्रान्ति है। एक भक्त कुछ सामान ले सुबह ही माँ के घर आ उपस्थित हुआ है। माँ उदास थीं। उसे देख उनका मन प्रफुल्लित हो उठा। अत्यन्त स्नेहपूर्वक उसकी भेंट स्वीकार कर माँ ने

कहा, 'आज का ऐसा पर्व है, बेटा! संक्रान्ति का पकवान बना है। पर एक भी लड़का पास नहीं था। मन में कंसा कैसा लग रहा था, रास्ते की ओर देख देखकर घर के बाहर-भीतर आना-जाना कर रही थी। वहुत अच्छा किया, बेटा, तुम आ गये।' देखते देखते और एक लड़का आकर हाजिर हुआ। माँ के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने ठाकुर की पूजा कीं। आज का ऐसा पर्व, लड़के फूल लेकर आये हैं। उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न हो ठाकुर को जी भरकर फूल चढ़ाये। माँ सन्तानों के मन की वात ठीक जानती हैं। उनके लिए थोड़ा फूल वचा रखा है। आज के पुनीत अवसर पर वे लोग भी गुरु के पादपद्मों में पुष्पांजलि अर्पित करेंगे। लड़कों के मन में भगवान् के प्रति भक्तिनिष्ठा जागे, उनका परम कल्याण हो, इसके लिए माँ सदा उत्कण्ठित रहती हैं। पूजाकर माँ पश्चिम की ओर मुँह किये खाट पर बैठी हैं---मुख प्रसन्न है, स्नेहरस में सराबोर है, करुणा से स्निग्ध और ज्ञान की उज्ज्वल आभा से दीप्त है। लगता है कि वह वालरवि-रश्मि के स्पर्श से सद्यः प्रस्फुटित कमल की शोभा को भी म्लान कर रहा है। कमल की शोभा हृदय को आनन्दित करती अवश्य है, किन्तु इस करुणासिक्त मुखकमल के दर्शनमात्र से कठोरतम हृदय तत्काल द्रवित और शीतल हो उठता है तथा अन्तःकरण आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। मन समझ लेता है कि इतने दिनों से जिसे ढूँढ़ रहा था, ढूँढ़ते ढूँढ़ते परेशान हुआ था, रोया था, आज वही

मनोवांछित निधि मिल गयी है। स्वर्णकंगनों से शोभित वराभय देनेवाले दोनों हाथ गोद में रखकर माँ पैर लटकाये बैठी हैं। पतली लाल किनारवाली दुग्धधवल साड़ी पहने हुई हैं। उनकी लम्बी, खुली हुई काजलकृष्ण केशराशि दुग्धधवल वस्त्र के साथ मिलकर अपूर्व शोभा का निर्माण कर रही है। माँ थोड़ा घूँघट काढ़े हुई हैं। अमृतवर्षिणी वाणी में लड़कों को लक्ष्य कर कह रही हैं, 'बेटा, तुम लोगों के लिए ये फूल रखे हैं, जल्दी निपटा लो, बेला हो गयी है। तुम लोगों को जलपान देना होगा।' लड़के भी अधीर हो इस शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा में थे। इसीलिए तो भोर में उठकर इतनी दूर चलकर आये हैं। माँ के दरवाजे के सामने बैठकर उनकी अपूर्व पूजा का आयोजन है, जिसमें कोई आडम्बर नहीं, है केवल प्राणों का आकर्षण और आन्तरिक भक्ति। जी भरकर देख रहे हैं और मोहित हो रहे हैं। छोटे आसन में माँ ने ठाकुर का पट तथा बालगोपाल की मूर्ति स्थापित की है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक माँ ने गुरु-इष्ट रूप में साक्षात् ठाकुर की पूजा की तथा वात्सल्यरस से सराबोर हो बालगोपाल को स्नान कराया, सजाया तथा नैवेद्य दिया। इस पूजा में माँ के मन का अद्भुत भावान्तरण परिलक्षित हुआ, और जब पूजा के अन्त में वे गोद में हाथ रखकर स्थिर भाव से ध्यानस्थ हुईं तब उस 'सौम्यात् सौम्यतरा' मूर्ति को देखकर कौन कहेगा कि वे मानवी हैं? सन्तानों का हृदय आज विशेष रूप से प्रफुल्लित है। माँ के श्रीचरणों में

पुष्पांजलि दे, उनका स्नेहाशीर्वाद पा वे आनन्द से भरे भरे हैं। फिर, माँ ने सन्तान की इच्छानुसार फूल भी जो रखा है।

पूजा समाप्त होने पर माँ अपने कमरे के बरामदे में दरवाजे के सामने लड़कों को बैठाकर जलपान करा रही हैं। प्रसादी साधारण मिठाई और फल तथा एक प्रकार का पकवान। आज मुरमुरा नहीं दिया। माँ पास बैठी बातचीत करते हुए लड़कों को आनन्दपूर्वक खिला रही हैं। लड़कों में एक पूर्वबंगवासी है। दूसरे का जन्म स्थान इसी अंचल में है--यहाँ से कुछ कोस दूर। अभी दूसरी जगह रहते हैं। कुलीन ब्राह्मण हैं। वे दोनों पूर्व परिचित मित्र हैं। बहुत दिनों पश्चात् आज अकस्मात् माँ के घर भेंट हो गयी। दोनों बड़े प्रसन्न हैं। माँ कोमल स्वर में पूर्वबंगवासी लड़के से कह रही है, 'बेटा, इधर गाँव में लोग यही सब पकवान बनाते हैं। वे अच्छी चीजें कहाँ पाएँगे ? गरीब लोग अपने खेत में पैदा होनेवाले अनाज से घर में ही ये चीजें बनाकर खाते हैं। है तो साधारण, पर सुपाच्य है, शीघ्र हजम हो जाती है। पेट भरकर खाओ, तबियत नहीं बिगड़ेगी।' माँ जानती हैं कि पूर्वबगवासियों का खाना-पीना खूब अच्छा होता है, सब शौकीन चीजें होती हैं। इसीलिए यह कैफियत दे रही हैं चावल तथा उड़द की दाल की पीठी में नारियल भरकर भाप में पकाया गया मोटा मोटा पीठा राब के साथ खाने को दिया है। अच्छा पका हुआ पीठा खाने में

स्वादिष्ट लग रहा है। लड़का खाते खाते आनन्दपूर्वक कह रहा है, माँ, हमारे देश में भी यह पीठा बनाया जाता है। हमने खूब खाया है। वहाँ नारियल और गुड़ को पहले ही कढ़ाई में पका, सन्देश के समान बना उसे पीठी में भर दिया जाता है। यह पीठा मुझे बहुत अच्छा लग रहा है। पेट भरकर खाऊँगा।' माँ बड़ी प्रसन्न हुईं। उन्होंने और पीठा दिया। दोनों मित्र जलपान कर सिंह-वाहिनी के दर्शन करने तथा गाँव घूमने निकल पड़े।

भोजन तैयार होने में थोड़ी देर हो गयी। ठाकुर को नैवेद्य दे माँ लड़कों को बुलायीं तथा रसोईघर के सामने बड़े मामा के घर क बरामदे के कोने में उन्हें खाने को बिठाया। उनके घर के बरामदे में एक ओर छोटी मामी और दूसरी ओर नलिनी दीदी बैठकर राधू तथा माकू के ससुराल में भेंट भेजने की व्यवस्था कर रही हैं। चीजें फैली हुई हैं। वे लोग बड़ी व्यस्त हैं। बाहर-भीतर आना-जाना कर रही हैं। कभी कुछ ला रही हैं, तो कभी कुछ उठा रही हैं। कुछ चीजें देख रही हैं, तो कुछ दिखा रही हैं। अच्छा है या नहीं, परस्पर एक दूसरे से पूछ रही हैं। फिर अपने आप ही बहुत सी बातें कह रही हैं। कौन किसकी सुने ! राधू की माँ——छोटी मामी और उनके बड़े जेठ की लड़की नलिनी, दोनों की उम्र में विशेष अन्तर नहीं है। एक लड़की को लेकर तो दूसरी छोटी बहिन को लेकर व्यस्त है। छोटी मामी चाहती हैं कि जब राधू को माँ ने पाला-पोसा है, तो उसे ही सब

कुछ मिलना चाहिए; नलिनी और माकू क्यों बोझ बनी बैठी हैं? और माँ भी क्यों उनको इतना चाहती हैं? नलिनी दीदी सोचती हैं, वे माँ के बड़े भाई की लड़की हैं, परिवार की प्रथम सन्तान हैं, माँ ने उन्हें भी गोद में खिलाकर बड़ा किया है, उनकी मातृहीना सहोदरा माकू भी तो राधू ही के समान भाई की कन्या है। अतः वे सभी समान स्नेह की अधिकारिणी हैं। फिर राधू ही क्यों अधिक पाएगी? माँ का सभी भतीजों-भतीजियों पर समान स्नेह है। वे सभी को समान रूप से प्यार करती हैं। फिर भी विशेष कारण से राधू के प्रति ममता और दायित्व कुछ अधिक बढ गया है। अपने छोटे भाई, राधू के पिता, अभय को उन्होंने पाला-पोसा था, पढ़ाया-लिखाया था। मेडिकल स्कूल में पढ़कर डाक्टरी परीक्षा देने के पश्चात् हैजे के रोग से अकस्मात् उनकी मृत्यु हो गयी। मृत्यु के समय अपनी गर्भवती पत्नी का स्मरण कर वे दीदी के कन्धों पर उसका भार दे गये थे। राधू का जन्म हुआ। पतिवियोग में उन्मादिनी माँ शिशु का पालन-पोषण करने में असमर्थ थी। उधर ठाकुर ने माँ को राधू का सहारा लेकर रहने को कहा था। इसीलिए माँ ने राधू को ग्रहण किया है एवं यही कारण है कि उनका ऊर्ध्वगामी मन भी नीचे उतरकर जीवकल्याण में लगा हुआ है।

छोटी मामी और नलिनी दीदी में विशेष बातचीत नहीं होती। वे एक दूसरे से दूर ही दूर रहती हैं। पर

आज दोनों ही पास पास सामान सँजोने में लगी हैं। परोक्ष में थोड़ी बातचीत भी हो रही है। माँ की इस ओर दृष्टि नहीं है। वे बड़े मामा के बरामदे में दीवाल से टिककर खड़ी हो लड़कों को भोजन करा रही हैं, उनसे बातचीत कर रही हैं, आवश्यकतानुसार भात-तरकारी परोसवा रही हैं, परोस रही हैं। नलिनी दीदी तथा छोटी मामी की इच्छा है कि माँ 'भेंट' के सम्बन्ध में खोज-खबर लें और सहायता करें, जिससे मन के अनुसार अच्छी अच्छी चीजें जुट सकें। मामी तथा दीदी कभी फुसफुसाकर तो कभी ऊँचे गले से माँ को सुनाकर दुःख प्रकट कर रही हैं--'अच्छी चीजें नहीं जुट पायीं। समधियाने के लोग क्या कहेंगे ? लोग निन्दा करेंगे,' आदि आदि। कुछ देर सुनकर लड़कों की ओर देखते हुए माँ खेदपूर्वक कहने लगीं, 'मेरे इतने लड़के हैं, जैसा भी दो, जो कुछ दो, बेचारे आनन्दपूर्वक खा लेते हैं ! और इनका एक भी कोई आ जाय तो कितनी कटोरियाँ निकालनी पड़ती हैं ! न दो तो बात बढ़ती है। जाने कितनी कटोरियाँ निकालनी पड़ेंगी !' माँ ने भेंट की ओर मुड़कर भी नहीं देखा। भोजन के बाद पान खाकर लड़के काली मामा के बैठकखाने में विश्राम करने चले गये। माँ भी अपने कमरे में चली गयीं। आज नलिनी दीदी का मन खराब है। अन्ततः माँ को ही खाने के लिए उन्हें मनाना पड़ेगा। माँ, तुम्हारा यह 'पागलों का हाट' जो है !

(क्रमशः)

धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनुवादक—स्वामी व्योमानन्द

(गतांक से आगे)

स्थान—अद्वैत आश्रम, वाराणसी

१९२१

तुम लोगों से इतना कहता क्यों हूँ, जानते हो ? हम लोगों की उम्र जब तुम लोगों के समान थी, ठाकुर हम लोगों से जबरदस्ती साधना करवा लेते थे। बचपन में गीली मिट्टी के समान स्वभाव रहता है न, इसीलिए जिसे सामने देखता है, उसी को जोर से पकड़ लेता है। नरम मिट्टी से जो भी गढ़ने की इच्छा हो गढ़ ले सकते हो—सभी वस्तुएँ तैयार की जा सकती हैं। एक वस्तु बना ली, फिर उसे तोड़कर दूसरी वस्तु बना सकते हो। जब तक मिट्टी गीली रहती है, तब तक जो भी इच्छा हो गढ़ ले सकते हो, पर इसी मिट्टी को आग में पका लेने पर फिर वह नहीं गढ़ी जा सकती। तुम लोगों का मन अभी गीली मिट्टी के समान है। अभी जिस तरह गढ़ोगे, वैसा होगा। मन अभी शुद्ध-पवित्र है—थोड़ी चेष्टा से ही भगवान् की ओर चला जायगा। अभी से मन को अच्छी तरह भगवान् में लगाये रखने से दूसरा कोई भाव उसमें प्रवेश नहीं कर पाएगा। उनके भाव में यदि मन एक बार पक जाय, तो फिर कोई चिन्ता नहीं।

मन सरसों की पोटली के समान है। सरसों की पोटली खुलकर बिखर जाने से उसे समेटना जैसे कठिन है, उम्र हो जाने पर मन जब संसार में बिखर जायगा,

तब उसे समेटकर ईश्वर-चिन्तन में लगाना भी वैसा ही कठिन है। इसीलिए तुम लोगों से कहता हूँ, बिखर जाने से पहले मन को गढ़ डालो। खूँटे को छू लो। इसके बाद जब उम्र अधिक हो जायगी और मन संसार में बिखर जायगा, तब सच्चिन्तन में मन को लगाने के लिए बड़ा जोर लगाना पड़ेगा---कष्ट पाना होगा। सोलह से तीस वर्ष तक जो भी करना है, कर लेना चाहिए। उसके बाद कुछ होने की आशा बहुत कम है। अभी शरीर, मन बहुत fresh (सतेज) है। इस समय एक principle (उद्देश्य) निश्चित कर परिश्रम करना होगा। इस उम्र में मन में जो छाप पक्की होगी, वही सारे जीवन भर सम्बल होकर रहेगी।

अभी से लग जाओ। इस उम्र में यदि परिश्रम करके मन को गढ़ ले सको, ईश्वर-लाभ ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है यह निश्चित कर ले सको, उनमें मन को ठीक ठीक लगा सको, तो फिर तुम्हारा जीवन इतनें सुन्दर रूप से गढ़ जायगा कि संसार का दुःख-कष्ट या अशान्ति किसी भी प्रकार तुम्हारा स्पर्श न कर सकेगी। बस, आनन्द, आनन्द ही रह जायगा---तुम अपार आनन्द के अधिकारी हो जाओगे।

मनुष्य क्या चाहता है?---आनन्द। आनन्द पाने के लिए कितनी दौड़-धूप करता है, कितने उपाय करता है, कितनी चेष्टा करता है, तो भी पाता है क्या? आनन्द पाऊँगा, यह सोचकर नाना प्रकार से चेष्टा की,

उपाय किया,--वहाँ से धक्का खाकर फिर दूसरा कुछ उपाय करता है। इसी प्रकार सारा जीवन बीत जाता है। आनन्द का अधिकारी होना उसके भाग्य में घटता ही नहीं। सारा जीवन कुली के समान व्यर्थ परिश्रम कर, नाना प्रकार के दुःख-कष्ट पाकर, इस संसार से चला जाता है। बस, आना-जाना ही हाथ लगता है। उद्देश्य को भूलकर झूठे सुख के पीछे दौड़ने से इस अवस्था को छोड़ और कुछ आशा नहीं की जा सकती। सच्चा आनन्द पाने के लिए संसार-सुख को तिलांजलि देकर, क्षणिक आनन्द का मोह त्यागकर भगवान् में सोलहों आना मन लगाना होगा। उनकी ओर मन जितना अधिक जायगा, आनन्द भी उतना ही अधिक मिलेगा। और संसार की ओर, भोग की ओर मन जितना अधिक जायगा, दुःख-कष्ट भी उतना ही अधिक होगा।

मनुष्य का स्वभाव कैसा है, जानते हो ? केवल सुख ढूँढ़ता है--मजा ढूँढ़ता है। छोटा-बड़ा, धनी-निर्धन--सब कोई सुख के लिए दौड़-धूप कर रहे हैं, पर आरम्भ में ही गल्ती करके बैठे हुए हैं। मेरा विश्वास है, उन लोगों में से 99 percent (९९ प्रतिशत) से भी अधिक लोग जानते नहीं कि असल सुख, असल मजा कहाँ है। इसीलिए सामने जो कुछ पाता है, उसी को पकड़ता है और सोचता है कि यही ठीक है। वहाँ धक्का खाता है, फिर दूसरी चीज पकड़ता है--फिर से धक्का खाता है। पर मजा देखो--बारम्बार धक्का खा रहा है, तो भी

रास्ता नहीं बदलता, ठीक रास्ता नहीं पकड़ता। ठाकुर एक सुन्दर बात कहते थे, "ऊँट कटीली घास छोड़ अच्छी घास पाने पर भी नहीं खायगा। जानता है कि कँटीली घास खाने से मुँह कट जायगा और उससे खून गिरेगा, तो भी वही खायगा।" सत्-संस्कार, सत्-स्वभाव, सदिच्छा के culture (अनुशीलन) के अभाव के कारण ही मनुष्य की ऐसी अवस्था है। तुम लोग बच्चे हो---दुनिया की छाप मन पर अभी भी नहीं पड़ी है। इस समय यदि जी-जान से जुट जाओ, तो दुःख-कष्ट के हाथ से बच जाओगे।

कितना भी ऐश्वर्य क्यों न हो, कितने भी आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव क्यों न हों, कोई भी चीज स्थायी आनन्द नहीं दे सकती---पाँच या दस मिनट, या अधिक से अधिक आधा घण्टा। कोई भी सांसारिक आनन्द इससे अधिक स्थायी नहीं होता। इस आनन्द के बाद फिर निरानन्द आता है---अंग्रेजी में जिसे action and reaction (क्रिया और प्रतिक्रिया) कहते हैं। ऐसा आनन्द चाहिए, जिसकी reaction (प्रतिक्रिया) न हो। एकमात्र भगवत्-आनन्द की ही reaction (प्रतिक्रिया) नहीं होती। इसके सिवा जितने भी प्रकार के आनन्द की बात क्यों न कहो, सभी की reaction (प्रतिक्रिया) होती है। Reaction (प्रतिक्रिया) होने से दुःख-कष्ट भी होगा।

मनुष्य-जीवन का उद्देश्य मत भूलना। पशु के समान खाकर, नींद सोकर, गप्प मारकर किसी भी तरह दिन

गिनते हुए बिता देने के लिए यह जीवन नहीं है। इस जीवन का उद्देश्य है भगवान्-लाभ। जब मनुष्य-जन्म मिला है, तो फिर पृथ्वी के सारे भोग-सुख तुच्छ जानकर उन्हें पाने के लिए, सत्य की उपलब्धि के लिए दृढ़ सकल्प ले लो--चाहे प्राण जायँ या रहें। यदि ऐसा न करो, तो ठाकुर का नाम लेकर, माँ-बाप को धोखा दे घर छोड़-कर क्यों आये हो? यदि दुःख-कष्ट के हाथ से निस्तार पाना चाहते हो, तो शरीर-मन के सतेज रहते लक्ष्य की ओर दौड़ चलो। बाद में होगा, समय आने पर होगा, उनकी कृपा होने पर होगा--ऐसा भाव नहीं चाहिए। वह सब तो आलस्य का लक्षण है। मैं आलस्य को घर करने देना पसन्द नहीं करता। उससे तो अच्छा है कि साफ साफ कहो कि मेरी भोग करने की इच्छा है। मन और मुख एक करो।

समय फिर कब होगा? जीवन का best part (सबसे उत्तम समय) तो चला जा रहा है—सोलह वर्ष से तीस वर्ष तक। क्या ऐसा सोचा है कि यह समय गोलमाल में बिताकर बुढ़ापे में धर्म करेंगे? इसी को कहते हैं खुद को धोखा देना, खुद को ठगना।

स्थान–अद्वैत आश्रम, वाराणसी

१६२१

बहुत से लोग सारा जीवन गोलमाल में बिताकर पेन्शन ले तीर्थवास करते हैं। वे सोचते हैं कि तीर्थवास करने से जीवन में जो कुछ पाप किया है, वह सब नष्ट

हो जायगा और मृत्यु के बाद मुक्ति प्राप्त होगी। पागल और किसे कहते हैं ? यह ठीक है कि जिसमें यह पक्का ज्ञान है कि तीर्थस्थान पवित्र स्थान है, उसके मन में तीर्थवास के फल से कुछ भले संस्कार पड़ जायँ और उनका कुछ अच्छा फल भी मिले, पर बस यहीं तक। किन्तु काशी की बात अलग है। काशी में शरीर छूटने से मुक्ति होती है, यह सत्य है। विश्वनाथ विश्व के नाथ हैं--उनके सारे नियम असाधारण हैं ! सारा जीवन दु:ख-कष्ट पाकर मुक्त होना अच्छा या सारा जीवन साधन-भजन और त्याग-तपस्या के द्वारा आनन्द में बिता-कर परलोक में भी अपार आनन्द का अधिकारी होना अच्छा ? ठाकुर जैसा कहते थे, "सदर दरवाजे से भी मकान में प्रवेश किया जा सकता है, और पीछे मेहतर के लिए बने दरवाजे से भी मकान के भीतर जाया जा सकता है।"--कौन रास्ता अच्छा है ? प्रयत्न करने पर जब सदर दरवाजे से प्रवेश किया जा सकता है, तो फिर पाखाने की दुर्गन्ध सूँघने की क्या आवश्यकता ?

और एक बात है--कृपा। उनकी कृपा-वायु तो बह रही है, पाल तान दो। भोग-वासना और मान-यश की इच्छा दूर फेंक उनका आश्रय ले पड़े रहो। दुनिया का भी भोग करेंगे और भगवान् की भी प्राप्ति करेंगे, ऐसा क्या कहीं होता है ? एक साथ दोनों नहीं हो सकते। भगवान् को चाहते हो, तो भोग-वासना छोड़ दो, और भोग करना चाहते हो तो उन्हें छोड़ना पड़ेगा। दो

नौकाओं में पैर मत रखना--बहुत कष्ट पाओगे। एक रास्ता ठीक कर लो।

अभी तुम लोगों की उम्र कम है। इस समय एक रास्ता ठीक कर लो। यदि अभी रास्ता ठीक न हो, तो किसी भी समय ठीक नहीं होगा। भगवान् को अपने से भी अपना जानकर उनके लिए जिसने इस जीवन में समस्त वासना, समस्त भोग-सुख की इच्छा त्याग दी है, उसके वे अति निकट हैं। उनके पास वे बँध गये हैं--जैसे दुलारे कन्हैया यशोदा के पास, गोपियों के पास बँध गये थे।

ठाकुर कहते थे, "भगवान् के लिए जिसने सब छोड़ दिया है, भगवान् पर उसका एक हक है।" माता-पिता के पास, आत्मीय-स्वजनों के पास जोर-जबरदस्ती की जा सकती है, वैसे ही उनके पास भी हठ किया जा सकता है कि दर्शन दो, दर्शन देना ही होगा। तब वे दौड़कर आ जाते हैं, गोद में उठा लेते हैं। उनकी गोद में बैठने से कितना आनन्द, कितना सुख होता है, यह वही जानता है, जिसे उन्होंने अपनी गोद मे उठा लिया है। उस आनन्द के सामने, मनुष्य जिसे आनन्द कहता है वह तुच्छ हो जाता है--फीका लगता है। वे और भी कहते थे, "जिन लोगों ने उनके लिए इन्द्रिय-सुख त्याग दिया है, वे बारह आना रास्ता पार कर गये हैं।" देह-सुख छोड़ना क्या इतना सीधा है रे? उनकी बहुत कृपा होने पर, पूर्व जन्म की बहुत तपस्या रहने पर तब कहीं मनुष्य

उस शक्ति-सामर्थ्य का अधिकारी होता है। मन को इस तरह तैयार करने की चेष्टा करो, जिससे वे सब वासनाएँ मन में बिल्कुल न उठ सकें। इस प्रकार से जीवन बिताना बड़ा कठिन है। अभी तुम लड़के हो, जितना सीधा समझते हो, उतना सीधा यह नहीं है। यह अवस्था कैसी है, जानते हो ?——नंगी तलवार पर पैदल चलना। प्रत्येक क्षण कटकर टुकड़े टुकड़े हो जाने की सम्भावना है। अखण्ड ब्रह्मचर्य के सिवा इस रास्ते पर चला नहीं जा सकता। भगवान् पर प्रेम और विश्वास हुए बिना ब्रह्मचर्य रखना बहुत कठिन है। भोग-विलासपूर्ण जगत् में रहना है, आँखों के सामने more than 99 percent (९९ प्रतिशत से अधिक) लोगों को भोगों के पीछे नित्य दौड़ते देखना है, फलतः मन में नाना प्रकार की छाप पड़ने की बहुत सम्भावना है। यह सब छाप यदि एक बार किसी प्रकार से पड़ जाय, तो फिर रक्षा नहीं है। जो लोग ब्रह्मचारी का जीवन बिताना चाहते हैं, उन्हें अपने मन को सदैव सद्विषय में engage (नियुक्त) करके रखना होगा। सद्ग्रन्थ-पाठ, सद्विषय की चर्चा, ठाकुरसेवा, साधुसेवा, साधुसंग और जपध्यान लेकर रहना होगा। एकमात्र इसी उपाय से स्वयं को तैयार किया जा सकता है।

पहले ब्रह्मचर्य में निष्ठा पक्की कर लो——बाकी सब आप ही आप आ जायगा। साधना किये बिना ब्रह्मचर्य-पालन नहीं किया जा सकता। ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होने

पर ही भगवान् का लाभ होता है। भगवान्-लाभ न हो तो मनुष्य-जन्म वृथा ही गया। उनके दर्शन होने पर ही आनन्द प्राप्त होता है। तुम लोग अभी लड़के हो, तुम लोगों की बुद्धि सत् है, मन सत् है--थोड़ी चेष्टा तो करो सही, अल्प चेष्टा से ही भक्ति-विश्वास जाग उठेगा।

रामकृष्ण मिशन द्वारा राहत कार्य प्रारम्भ

आन्ध्र और तमिलनाडु के तूफानग्रस्त इलाकों में कई स्थानों पर रामकृष्ण मिशन ने व्यापक पैमाने पर राहत कार्य प्रारम्भ कर दिये हैं। उन क्षेत्रों में हुई भीषण तबाही का हाल किसी से छिपा नहीं है। इससे सहज ही अनुमान लग सकता है कि किस पैमाने पर उन क्षेत्रों को राहत कार्य की आवश्यकता होगी। रामकृष्ण मिशन ऐसे समय पर अपने शुभचिन्तकों और मित्रों से सहयोग की आकांक्षा करता है। लक्ष लक्ष घरबारहीन तूफान पीड़ितों को आपकी सहानुभूति और सहायता चाहिए। और आप यह कार्य रामकृष्ण मिशन के माध्यम से कर सकते हैं।

आप अपनी सहायता चेक या मनीआर्डर द्वारा निम्नलिखित किसी भी पते पर भेज सकते हैं--

(१) **रामकृष्ण मिशन, पो. बेलुड़ मठ ७११ २०२, जि. हावड़ा**
(२) **रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर ४९२००१**

कृपया चेक "**रामकृष्ण मिशन**" (**पेयीज अकाउंट**) के नाम से काटें। आपकी सहायता साभार स्वीकार की जायगी।

निवेदक,
स्वामी आत्मानन्द

प्रेम भरा मन निज गति छूँछा

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

गुरु वसिष्ठ जिस धर्म का निरूपण श्री भरत के सामने करते हैं, वह धर्म अधूरा है और श्री भरत जो धर्म प्रस्तुत करते हैं, उसमें पूर्णता है। गुरु वसिष्ठ ने जब धर्म का उपदेश दिया, तो पहले वर्ण और आश्रम धर्म का उपदेश दिया, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि वर्ण तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन विभिन्न आश्रमवालों के क्या धर्म हैं, उस पर चर्चा की। पर जब श्री भरत अयोध्या के नागरिकों को लेकर चित्रकूट की ओर जाते हैं, तो 'मानस' में एक पंक्ति आती है--

प्रमुदित तीरथराज निवासी।
बैखानस बटु गृही उदासी॥
कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा।
भरत सनेहु सील सुचि साँचा॥ २/२०५/१-२

--श्री भरत को देखकर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी, संन्यासी सभी एक स्वर से उनकी प्रशंसा कर रहे हैं। इसका कारण क्या है? देखा जाता है कि समाज में व्यक्ति जिस वर्ण या आश्रम का है, उसी का आदर्श बन पाता है, दूसरे लोगों के लिए वह आदर्श नहीं बन पाता। या यों कहें कि जो गृहस्थ का आदर्श है, वह संन्यासी का आदर्श नहीं हो सकता। जो गृहस्थ के लिए उचित हो,

उसका संन्यासी के लिए उचित होना आवश्यक नहीं। लेकिन श्री भरत को देखकर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी सभी प्रसन्न और धन्य होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि श्री भरत के जीवन में समग्र धर्मों का एक ऐसा केन्द्र है, जहाँ सभी आश्रमों और वर्णों की मर्यादा आकर एकाकार हो जाती है।

वृन्दावन में एक सन्त थे। उनके निकट रहने का मुझे अवसर मिला था। एक बार एक श्रद्धालु भक्त उन्हें विवाह में निमंत्रण देने आये और उनसे कहा, "महाराज, आप अपनी शिष्यमण्डली के साथ विवाह में पधारें।"

महाराज ने कहा, "नहीं भाई, हम विवाह में नहीं आएँगे।"

सज्जन बोले, "महाराज, अगर आप नहीं आएँगे, तो विवाह अधूरा रह जायगा।"

महाराजजी ने कहा, "भई, और किसी समय तुम्हारे घर भले ही आ जाएँगे, पर विवाह में नहीं जाएँगे।" फिर विनोद करते हुए बोले, "कम से कम विवाह में तो संन्यासी को मत बुलाया करो।"

—"क्यों नहीं, महाराज, आप तो हमारे लिए बड़े पूज्य हैं।"

—"देखो पूज्य तो हैं, लेकिन विवाह के समय नहीं।"

—"क्यों ?"

—"भई, समस्या यह है कि विवाह के समय संन्यासी को देखकर यदि वर के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया,

तब तो विवाह का उद्देश्य ही व्यर्थ हो गया। और कहीं विवाह होते देखकर संन्यासी के ही मन में राग आ गया, तो बेचारे का पतन हुआ। इसलिए अच्छा तो यह है कि उस समय कम से कम दोनों न मिलें।"

उन्होंने तो ये बातें विनोद में कहीं, पर सांकेतिक अर्थ यही है कि दोनों की मर्यादा अलग अलग है——

सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥ २/१७२

——अगर गृहस्थ कल के लिए चिन्ता न करे, मोहवश कर्म का त्याग कर दे तो वह शोक करने योग्य है। पर अगर एक संन्यासी केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कर्म में रत हो जाय, तो वह भी चिन्ता का पात्र है। इन दोनों की मर्यादा अलग अलग है।

यह ठीक है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनमें से प्रत्येक का धर्म अलग अलग है और प्रत्येक आश्रम की मर्यादा भी अलग अलग है, फिर भी व्यक्ति के जीवन में इन सारे वर्णों के धर्म की कहीं न कहीं आवश्यकता होती ही है। एक ब्राह्मण के जीवन में ब्राह्मण-धर्म की प्रधानता तो होती है, पर कहीं न कहीं उसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र धर्म को भी स्वीकार करना पड़ता है। यदि हमें पूजन करना हुआ, तो हाथों से चन्दन घिसेंगे, पुष्प लाएँगे, पूजा करेंगे। इस तरह हाथों से ब्राह्मणधर्म का कार्य लेंगे। यदि हमें संघर्ष करना पड़ गया, अपनी रक्षा की आवश्यकता हुई, तो हाथों में शस्त्र

ले क्षत्रियधर्म निवाहना पड़ेगा। जब द्रव्यों का, पैसे का लेन-देन करना होता है, तो ये ही हाथ वैश्यधर्म का कार्य करते हैं और जब हमें दूसरों की सेवा करनी होती है, तो ये ही हाथ उस समय शूद्रधर्म का परिचालन करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति को एक धर्म और आश्रम विशेष का होने पर भी अन्य सभी वर्णों और आश्रमों को जीवन में स्थान देना होता है। श्री भरत का जीवन एक ऐसा केन्द्र है, जहाँ समस्त वर्णाश्रम-धर्म मिलकर एकाकार हो जाते हैं। यही विशेषता गोस्वामीजी के 'रामचरितमानस' की भी है, जिसमें सभी जाति और वर्ण के लोग जीवन का समाधान पाते हैं। समाज सदा दो वर्गों में बँटा हुआ है, जैसे, धनवान-निर्धन, विद्वान्-अज्ञ, आदि। दोनों की अभिरुचि में अन्तर होता है। एक विद्वान् जिस वस्तु का आदर करता है, साधारण व्यक्ति उसे समझ नहीं पाता। बुद्धिमान व्यक्ति बुद्धिप्रधान है, जबकि साधारण व्यक्ति मन:प्रधान। साधारण व्यक्ति को मनोरंजन चाहिए, जबकि बुद्धिनिष्ठ को बौद्धिक वस्तु। 'रामचरितमानस' की विशेषता यह है कि वह दोनों प्रकार के व्यक्तियों की अभिरुचि को तुष्ट करता है--

बुध बिश्राम सकल जन रंजनि।
रामकथा कलि कलुष बिभंजनि।। १/३०/५

--'यह रामकथा विद्वानों को विश्राम देनेवाली तथा साधारण जन का मनोरंजन करनेवाली है।' बुद्धि और मन का जो अलगाव है, वह वर्ग का अलगाव है। उद्देश्य

इस अलगाव को बढ़ाना नहीं वरन् दूर करना है। और यही विशेषता भगवान् राम और श्री भरत के चरित्र में है। भगवान् राम से मिलकर सबको प्रसन्नता होती है। ऐसा नहीं है कि भगवान् राम से मिलकर केवल ऋषि-मुनियों को ही प्रसन्नता हो और साधारण जन को नहीं। चाहे विद्वान् हो चाहे अज्ञ, सभी प्रभु से मिलकर धन्यता का अनुभव करते हैं। भगवान् राम जाते हैं महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में, अगस्त्य मुनि के आश्रम में तथा भरद्वाज के आश्रम में। वहाँ ज्ञान, वैराग्य और धर्म की अद्वितीय चर्चा चलती है। इस वार्तालाप का एक अलग ही रस होता है। भगवान् राम महर्षि भरद्वाज से पूछ देते हैं—

नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं। २/१०८/१

—"महाराज, बताइए हम किस मार्ग से जाएँ।" इस प्रश्न को सुनकर भरद्वाज जी मन में हँसकर व्यंग्यात्मक उत्तर देते हैं—

मुनि मन बिहसि राम सन कहहीं।
सुगम सकल मग तुम्ह कहुँ अहहीं।। २/१०८/२

—"आपके लिए तो सारे मार्ग ठीक हैं। पर पहले यह तो बताइए कि आपको जाना कहाँ है?"

ठीक ही तो है, जब आप किसी से मार्ग पूछते हैं तो पहले यही बताते हैं कि हमें अमुक जगह अमुक मुहल्ले में जाना है। अगर आप शहर के मुहल्ले का नाम न लें और मार्ग पूछने लगें, तब तो बतानेवाला यही कहेगा—आप चाहे जहाँ चले जाइए। भगवान् राम ने मुनि को

यह तो बताया नहीं कि उन्हें कहाँ जाना है। बस, कह दिया कि मुझे मार्ग बताइए। फिर, यह भी तो सही ही है कि भगवान् यह कैसे बताएँ कि उन्हें कहाँ जाना है ? पूर्ण को न तो कहीं आना है, न जाना। इसीलिए भरद्वाज जी ने कहा--जब कहीं लक्ष्य ही नहीं है, तो चाहे जिधर चले जाइए। फिर उसमें यह भी व्यंग्य था कि क्या आपको भी मार्ग बताने की आवश्यकता है ? ब्रह्म को भी क्या मार्गदर्शक की अपेक्षा है ? विलक्षण सत्संग चलता है।

इसी प्रकार जब प्रभु महर्षि वाल्मीकि से मिले, तो उनसे बड़ी नम्रतापूर्वक कहा--

अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ।
सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ॥ २/१२५/५

--"आप कृपा करके ऐसा स्थान बताइए, जहाँ मैं सीता और लक्ष्मण के साथ निवास कर सकूँ।" अपूर्व सत्संग-रस का वही क्रम चलता है। वाल्मीकिजी ने तुरन्त कहा--

पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥ २/१२७

--"पहले आप यह बताइए कि आप कहाँ नहीं हैं, तो फिर मैं बताऊँ कि आपको कहाँ रहना है।"

ये ही प्रभु राम जब निषाद से मिले, तो निषादराज ने उन्हें गंगा-पार उतारा और कहा, "महाराज, मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे अपने साथ ले चलिए।"

भगवान् राम ने कहा, "मेरे साथ रहकर तुम क्या

करोगे ?"

केवट ने कहा, "मैं आपको मार्ग दिखाऊँगा"--
'नाथ साथ रहि पंथु देखाई।'

भरद्वाज भले ही भगवान् राम को मार्ग न दिखाएँ, पर केवट कहता है कि मैं आपको मार्ग दिखाऊँगा। वाल्मीकिजी ने कहा, "हम आपको क्या स्थान दिखलाएँ, आप तो सर्वत्र विद्यमान हैं।" और इधर निषाद दावा करता है--मैं आपको मार्ग दिखा दूँगा। यही नहीं, मैं आपके रहने के लिए स्थान बना दूँगा--

नाथ साथ रहि पंथु देखाई।
करि दिन चारि चरन सेवकाई॥
जेहिं बन जाइ रहब रघुराई।
परनकुटी मैं करबि सुहाई॥ २/१०३/४-५

वाल्मीकि के लिए भगवान् के रहने के स्थान की कल्पना कठिन हो सकती है, पर केवट उस स्थान को खोज सकता है, जहाँ भगवान् राम को रहना है। भरद्वाज को भगवान् को मार्ग दिखाना कठिन प्रतीत होता है, पर केवट के लिए वह सरल कार्य है। और प्रभु के चरित्र की विचित्रता यह है कि जब वे ऋषि-मुनियों के आश्रम में जाते हैं, तो उनकी बातों का आनन्द तो लेते ही हैं, पर केवट की बातों का उससे कम आनन्द नहीं लेते। भगवान् उसके सामने अपना ऐश्वर्य प्रकट नहीं करते, उससे ऐसा नहीं कहते कि तू जानता नहीं मैं कौन हूँ, मेरे सामने ऐसी बातें कर रहा है ? हम लोग रोज ही दो-चार बार कह

डालते हैं--जानते नहीं, किससे बात कर रहे हो ? पर यहाँ सृष्टि के रचयिता बिना किसी ऐश्वर्य का प्रदर्शन किये केवट से वार्तालाप करते हैं और उसमें वैसा ही रस लेते हैं, जैसा वाल्मीकि और भरद्वाज की बातों में। यही समन्वय का केन्द्र है। भगवान् जहाँ जाते हैं, सबको मिलाकर एकाकार कर देते हैं। भगवान् राम ने गुरु बनाया मुनि वसिष्ठ को, जो कि ब्राह्मणश्रेष्ठ हैं, और मित्र बनाया निषादराज को। गुरु वसिष्ठ और निषाद-राज में बड़ी दूरी है। गुरु ब्राह्मणधर्म की मर्यादा में रहते हैं। उनकी दृष्टि में निषाद ऐसा नीच है कि--

जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा। २/१९३/१

--'जिसकी छाया छू जाने से स्नान करना पड़ता है।' तो, निषाद और गुरु वसिष्ठ कभी एक दूसरे के निकट नहीं आ सकते। दोनों अपने अपने वर्ण और धर्म की मर्यादा में आरूढ़ हैं। निषाद सेवा का कार्य करता है और गुरु वसिष्ठ धर्मोपदेश का काम करते हैं। अब भगवान् राम ने क्या किया ? उनका गुरु वसिष्ठ के प्रति आदर है और निषाद के प्रति प्रेम। इस आदर और प्रेम दोनों को प्रभु मिलाकर ऐसा एकाकार कर देते हैं कि धर्म का केन्द्र ही बदल जाता है। इस केन्द्र को बदलने का श्रेय है श्री भरत को। कैसे ?

श्री भरत, गुरु वसिष्ठ तथा अयोध्या के नागरिक सभी चित्रकूट की ओर जाते हैं। जब वे शृंगवेरपुर के पास पहुँचे, तो निषादराज ने सुना कि श्री भरत चतुरंगिणी

सेना लेकर चित्रकूट की ओर जा रहे हैं। निषादराज के अन्दर भगवान् राम के प्रति अगाध प्रेम है। उन्हें लगा कि कहीं भरत सेना लेकर श्री राघवेन्द्र से लड़ने तो नहीं जा रहे हैं? उन्होंने तुरन्त गाँव के लोगों को एकत्र किया और उत्साहित करते हुए कहा——आज हम लोगों के जीवन की सार्थकता का चरम दिन आया है——

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ।
जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥
समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा।
राम काजु छन भंगु सरीरा॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू।
बड़े भाग असि पाइअ मीचू॥
स्वामि काज करिहउँ रन रारी।
जस धवलिहउँ भुवन दस चारी॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें।
दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥ २/१८९/२-६

——'मैं भरत से लोहा लूँगा और जीते-जी उन्हें गंगा-पार उतरने न दूँगा। गंगाजी के तट पर युद्ध में मरना और वह भी इस क्षणभंगुर शरीर से प्रभु का कार्य करते हुए, फिर श्रीरामजी के भाई राजा भरत के हाथों मरना तो बड़े भाग्य से मिलता है। मैं स्वामी के काम के लिए रण में लड़ाई करूँगा। अगर जीत गया, तो चौदह लोक मेरे यश से उज्ज्वल हो जाएँगे और यदि मारा गया, तो श्रीराम के निमित्त मरूँगा——इस प्रकार मेरे दोनों

हाथों में आनन्द के लड्डू हैं।'

केवट के मन में एक अदम्य उत्साह है, मृत्यु का वरण करने की व्यग्रता है। सारे गाँव के लोग हाथ में बाँस, फरसा आदि लेकर चतुरंगिणी सेना से लड़ने चल पड़े। निषादराज ने कहा, "भई, ढोल बजाओ।" इस बीच किसी ने छींक दिया। किसी वृद्ध ने कहा, "लगता है युद्ध नहीं होगा।" निषादराज ने कहा, "ठीक तो है, यह बिना पता लगाये कि भरत किस अभिप्राय से आ रहे हैं, युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाना भी ठीक नहीं। चलकर देखें कि श्री भरत का अभिप्राय क्या है--मित्र का, शत्रु का या उदासीन का, और तब वैसा कार्य किया जाय"--

बूझि मित्र अरि मध्य गति
तस तब करिहउँ आइ। २/१९२

निषादराज भट आदि लेकर श्री भरत की परीक्षा लेने की भावना से चलते हैं। देखिए केन्द्र कैसे परिवर्तित होता है। अनजाने ही एक नयी बात होने जा रही है। श्री भरत निषाद को आते देख गुरु वसिष्ठ से पूछते हैं, "ये सामने कौन आ रहे हैं?" गुरु वसिष्ठ को लगा कि परिचय तो ऐसा दें, जिससे ये पहले ही उन्हें पहिचान लें। उन्होंने पहला वाक्य यही कहा, "ये राम के मित्र हैं।" वैसे गुरु वसिष्ठ अन्य रूप से भी उनका परिचय दे सकते थे। वे पहले निषाद का नाम बताते, फिर जाति आदि का वर्णन करते। पर यह सब उन्होंने पहले नहीं

कहा। केवल यही बोले——ये राम के सखा हैं और फिर कहा, "इनका नाम गुह है, ये जाति के निषाद हैं।" लेकिन श्री भरत ने क्या सुना ? श्री भरत ने बस इतना ही सुना कि ये श्रीराम के सखा हैं। उसके बाद उनके नाम, जाति आदि का श्री भरत के सामने कोई महत्त्व नहीं था। और एक नयी बात हो गयी। अब तक की परम्परा थी कि राजा रथ पर रहते और सेवक नीचे। पर गुह निषाद को देख राजा भरत उनसे मिलने रथ से उतर पड़े। यद्यपि यह उस समय की प्रचलित परम्परा के प्रतिकूल बात थी, पर श्री भरत को उसकी कोई चिन्ता नहीं। उनके सामने बस यही बात थी कि ये राम के सखा हैं अतः राम के हैं। और इसलिए पहला कार्य यह किया——

राम सखा सुनु संदनु त्यागा।
चले उतरि उमगत अनुरागा॥ २/१९२/७

——'यह प्रभु राम का मित्र है, सुनते ही उन्होंने रथ छोड़ दिया और रथ से उतर प्रेम में उमँगते हुए चले।' और एक नया दृश्य उपस्थित हो गया——

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहु लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥ २/१९३

——एक सम्राट् के पुत्र ने, राज्य के उत्तराधिकारी ने दौड़कर निषादराज को उठाकर हृदय से लगा लिया। आँखों से अश्रुपात हो रहा है। हृदय में प्रेम समाता नहीं। ऐसा लगता है मानो लक्ष्मण से भेंट हो गयी हो।

गुरु वसिष्ठ यह देख क्षण भर के लिए चौंक पड़े, क्योंकि श्री भरत से मिलने के पूर्व ही निषादराज ने गुरु वसिष्ठ को अपनी वर्ण-मर्यादा के अनुरूप दूर से ही प्रणाम किया था—

देखि दूरि तें कहि निज नामू ।
कीन्ह मुनीसहिं दंड प्रनामू ।। २/१९२/५

—गुरुदेव ने उसे आशीर्वाद दिया । पर श्री भरत केवल आशीर्वाद देकर नहीं रह गये, उन्होंने रथ से उतरकर केवट को गले लगा लिया !

आजकल के कई धर्मधुरन्धर कहते हैं कि श्री भरत का तथा भगवान् राम का केवट को गले लगाना वर्णाश्रमधर्म के विपरीत था । ऐसे लोग यह सोचकर सन्तोष कर लेते हैं कि केवट से मिलने के बाद भगवान् राम और भरत ने स्नान कर लिया होगा ! ऐसे धर्मज्ञों को शत शत नमन ! कम से कम गोस्वामीजी को यह स्वीकार नहीं कि भगवान् राम केवट से मिलने के वाद स्नान करें तो शुद्ध होंगे । हमारी मान्यताएँ इतनी संकीर्ण हो गयी हैं, जिनकी कल्पना गोस्वामीजी का धर्म नहीं कर पाता । भगवान् राम तो परम उदार हैं । उनके चरित्र का गौरव कैसा है ? लोग दो प्रकार के होते हैं— एक पवित्र होते हैं और दूसरे पावन । पवित्र लोगों को सदा यह डर लगा रहता है कि कहीं हम अपवित्र न हो जायँ । और पावन की विशेषता यह है कि जो अपवित्र है, वह भी उसके स्पर्श से पवित्र हो जाता है । जहाँ पर

पवित्रता की कमी है, वहाँ यह डर लगना स्वाभाविक है कि कहीं हमारी पवित्रता छिन न जाय।

एक सांकेतिक कथा आती है——भगवान् राम महर्षि विश्वामित्र के साथ जनकपुर की ओर जाते हैं। जनकपुर में कौन हैं?——आद्याशक्ति भगवती श्री जानकीजी। और वहाँ के सम्राट् हैं ज्ञानियों में अग्रगण्य विदेहराज जनक, जिनके बारे में कहा गया है——

जासु ग्यान रबि भव निसि नासा। २/२७६/१

और सीताजी कौन हैं?——

जनकसुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की।।
ताके जुग पद कमल मनावउँ।
जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ।। १/१७/७-८

——वे हैं निर्मल मति की देनेवाली, जिनका नाम लेकर स्त्रियाँ पातिव्रत-धर्म में आरूढ़ होती हैं। पर जब भगवान् राम विश्वामित्रजी के साथ जनकपुर की ओर चलने लगे, तो गोस्वामीजी रास्ते में किसे खड़ा कर देते हैं?——

आश्रम एक दीख मग माहीं।
खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं।। १/२०९/५

——रास्ते में एक आश्रम दिखायी पड़ता है, जहाँ न कोई मनुष्य है, न पशु, न पक्षी, केवल एक पत्थर की शिला पड़ी हुई है। भगवान् राम उसे देखकर विश्वामित्र से पूछते हैं——यह क्या है? यहाँ लाने का गोस्वामीजी का अभिप्राय यह था कि 'प्रभु, आप जनकपुर बाद में

जाइएगा, परमज्ञानी जनक से बाद में मिलिएगा, पहले इस जड़ पत्थर से मिलिए। ज्ञानी से आपका मिलना उतना आवश्यक नहीं, जितना इस जड़ को आपका दर्शन आवश्यक है। पतिव्रताओं की शिरोमणि श्री जानकीजी तो दिव्यस्वरूपा हैं; उनसे मिलने के पूर्व आप उससे मिल लीजिए, जो पातिव्रत-धर्म से च्युत हो चुकी है।' किन्तु क्या पतिव्रताशिरोमणि आद्याशक्ति जानकीजी और पातिव्रत से च्युत अहल्या इन दोनों में कोई तुलना हो सकती है? तथापि यही वह समन्वय-सूत्र है, जिसे गोस्वामीजी रखते हैं। श्री राघवेन्द्र ने पत्थर की शिला देखकर महर्षि से पूछा—"गुरुदेव, यह क्या है?"

—"राघवेन्द्र, देख नहीं रहे, यह पत्थर की शिला है।"

—"तो गुरुदेव, यह पत्थर की शिला ही थी क्या?"

—"नहीं, थी तो नहीं, पर इसे पत्थर बना दिया गया है।"

ज्योंही प्रभु ने यह सुना तो उन्हें अपने पूर्व-अवतार का स्मरण हो आया। भगवान् को सतयुग की बात याद हो आयी कि मेरे भक्त ने मुझे पत्थर के खम्भे से प्रकट किया था। जब प्रह्लाद को हिरण्यकशिपु ने पत्थर के खम्भे से बाँधकर पूछा था कि क्या तेरा भगवान् इस पत्थर के खम्भे में है? तो प्रह्लाद ने कहा था—हाँ हैं; और तब उसने मुझे प्रकट करके दिखला दिया था। आज मेरे सामने पत्थर है और अगर मैं इस पत्थर से भक्त प्रकट करके न दिखला पाया, तो मेरी भगवत्ता ही व्यर्थ

है। अगर भक्त ने मुझे पत्थर से प्रकट कर दिया, तो मेरी सार्थकता भी तभी होगी, जब मैं भी पत्थर से भक्त को जन्म दे दूँ। तभी तो भगवान् और भक्त की पूर्णता होगी। और इसी लिए प्रभु शिला के बारे में पूछते हैं--

पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी।
सकल कथा मुनि कहा बिसषी ।। १/२०९/१२

मुनि से सारी कथा सुनकर प्रभु ने कहा, "गुरुदेव, अब आपकी क्या आज्ञा है?" गुरुदेव बोले, "अपना चरण इसके मस्तक पर रख दो।" यह सुन प्रभु व्याकुल हो उठे। मैं अपना चरण किसी के मस्तक पर रखूँ यह तो उचित नहीं। लोग यही सोचेंगे कि इसको पतिता समझकर ही भगवान् ने अपना चरण इसके मस्तक पर रखा। प्रभु बड़े संकोच में पड़ गये। गुरुदेव उनकी उलझन ताड़ गये और बोले, "राघवेन्द्र, मैं यह आज्ञा अपनी ओर से नहीं दे रहा हूँ। मुझे अहल्या की ध्वनि सुनायी पड़ रही है। अहल्या प्रस्तर है, पर मैं उसकी भावना को समझ रहा हूँ। वह चाहती है कि तुम अपने चरण उसके मस्तक पर रखो"--

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर ।। १/२१०

प्रभु बड़ी उलझन में पड़े। इधर गुरुदेव की आज्ञा और उधर शापग्रस्ता पूज्या ब्राह्मणी के सिर पर पैर रखने का संकोच। प्रभु जब अपनी ओर से कृपा करते हैं, तो दो रूपों में करते हैं--या तो नेत्रों से--'राम कृपा करि

चितवा जाही' (५/४/३) या हाथ से—'कर परसा सुग्रीव सरीरा' (४/७/६)। पर गुरुदेव का तात्पर्य था—राघवेन्द्र, अहल्या यह कह रही है कि मुझ पर न तो नेत्र द्वारा कृपा कीजिए और न भुजा द्वारा। मुझ पर तो चरण द्वारा ही कृपा कीजिए।

प्रभु ने पूछा, "क्यों ?"

विश्वामित्र बोले, "अहल्या कहती है कि यदि आप नेत्रों से कृपा करने जाएँगे, तो आपको मेरा चरित्र दिखायी पड़ेगा और तब आप कृपा नहीं कर पाएँगे। अतः आप आंखें मूँद लीजिए। यह मत देखिए कि मैंने क्या किया है। यदि आप भुजाओं द्वारा कृपा करना चाहें, तो इन भुजाओं में तो आपने अधर्मियों को दण्ड देने के लिए धनुष-वाण धारण किया है। यदि आप भुजा उठाएँगे, तो मुझे लगेगा कि आप मुझे कहीं दण्ड देने के लिए तो भुजा नहीं उठा रहे हैं। अतः आप भुजा द्वारा मुझ पर कृपा मत कीजिए। यदि आप कृपा करना चाहते हैं, तो उन चरणों द्वारा कृपा कीजिए, जिनसे गंगा निकली है। इस गंगा ने कभी किसी नदी या नाले से नहीं पूछा कि तुम पवित्र हो या अपवित्र। जो जैसा आया, गंगा ने उसे अपने में एकाकार करके पवित्र कर दिया—

इक नदिया इक नार कहावत मैलोहि नीर भरो।
जब दोनों मिल एक बरन भये सुरसरि नाम परो॥

अतः प्रभु, ये चरण ही ठीक हैं, जो गंगा के उद्गम-स्थल हैं—उस गंगा के, जो अपावन को पावन बनाती

है, जिसका द्वार कभी किसी के लिए बन्द नहीं होता।

प्रभु ने बड़े संकोच से अहल्या के मस्तक पर अपना पैर रखा, तो अहल्या प्रकट हो गयी——

परसद पद पावन सोक नसावन
प्रगट भई तप पुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक
सनमुख होइ कर जोरि रही ।। १/२१०/छं. १

गौतम ने अहल्या का त्याग कर दिया था कि इस अपवित्र का संग करके हम भी अपवित्र हो जाएँगे। समाज ने यह कहकर उसका त्याग कर दिया कि यह अपावन है, इसके रहने से समाज की पवित्रता नष्ट हो जायगी। पर जब 'पावनं पावनानाम्' प्रभु ने करुणा कर उसका स्पर्श किया, तो वह दिव्यशरीरधारिणी, तपोमयी अहल्या हाथ जोड़कर प्रकट हो गयी और बोली, "प्रभु, आज मैं धन्य हो गयी। जो लाभ भगवान् शंकर को मिला था, वही लाभ आज मुझे मिला"——

देखेउँ भरि लोचन हरि भव मोचन
इहइ लाभ संकर जाना। १/२१०/छं. ३

कामारि शंकर ने काम को जीतकर जो लाभ प्राप्त किया था, कामग्रस्ता अहल्या ने वही प्रभु-कृपा से प्राप्त कर लिया। प्रभु की महिमा यह रही कि उन्होंने दोनों को समान ही वस्तु दी। फिर भी प्रभु संकोच में पड़े हैं। भले ही गुरुदेव की आज्ञा का पालन हो गया, फिर भी प्रभु को भीतर ही भीतर कुछ लग रहा है। 'विनय-

पत्रिका' (१००/४) में गोस्वामीजी लिखते हैं--

सिला साप-संताप-बिगत भइ
परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय,
चरन हुए को पछिताउ ॥

--प्रभु को पछतावा होता है कि ऋषि-पत्नी का मेरे चरण से स्पर्श हो गया। लोकदृष्टि में मैंने अहल्या का अनादर दिया। पर अहल्या स्वयं इसकी सुन्दर व्याख्या कर देती हैं। उन्होंने कहा, "महाराज, आपके चरणों की बड़ी विशेषता है। आपने शंकरजी पर कृपा तो की थी, पर मुझ पर कृपा करके आपने मुझे शिव ही बना दिया।"

—"कैसे ?"

—"शंकरजी नग्न रहते हैं। वे तो ज्ञानमय हैं। लोकदृष्टि से यहाँ मेरा चरित्र भी नग्न हो गया था। सब मेरी अपवित्रता जान गये थे। शिव के कण्ठ में विष की नीलिमा है, तो यहाँ मुझमें भी कलंक की नीलिमा है। इस प्रकार नग्नता और नीलिमा दोनों मुझमें विद्यमान थीं। आपने देखा ये दोनों वस्तुएँ तो इसके पास हैं, पर सिर पर गंगा नहीं है। अतः आपने अपने चरणों को, जिनसे गंगा निकली है, मेरे सिर पर रख मुझे शिव बना दिया। जो अशिव को शिव बना दे यही तो आपकी महान् करुणा है।" और अहल्या प्रसन्न हो चली जाती हैं।

तब श्री राघवेन्द्र ने गुरुदेव से पूछा, "गुरुदेव, यदि

कोई पाप हो जाय, तो उसका प्रायश्चित्त क्या है ?" गुरुदेव मुसकराकर बोले, "क्या अहल्या का स्पर्श हो जाने से पाप का अनुभव कर रहे हो ?" प्रभु ने कहा, "नहीं, नहीं, गुरुदेव, मुझे दुःख इस बात का है कि मैंने एक महात्मा की पत्नी का चरण से स्पर्श कर दिया। यह मेरी कितनी बड़ी धृष्टता है। अब मैं क्या उपाय करूँ, जिससे प्रायश्चित्त हो ?" और तब गुरुदेव की सलाह पर प्रभु गंगास्नान करने जाते हैं--'गये जहाँ जगपावनि गंगा।' गंगास्नान कर प्रभु को प्रसन्नता हुई। उन्होंनें मानो अहल्या से कहा--"मैंने अपने चरण तुम्हारे मस्तक पर रखे थे तो अब अपने चरणोदक को भी अपने सिर पर रख लिया है। अब ठीक हुआ। मैंने तुमको तुच्छ या हीन जानकर दया नहीं की थी। तुम तो हमारी पूज्या हो। यह तो मैंने गुरुदेव की आज्ञा का पालन मात्र किया था।"

इसका अभिप्राय क्या ? जो व्यक्ति पतित का उद्धारक बनने का दावा करता है, वह उद्धारक क्या हुआ, वह तो अहंकारी है। वह सामनेवाले व्यक्ति के हृदय में ग्लानि को जन्म देता है कि उसे कृपा का पात्र बनना पड़ा। पर भगवान् राम की विशेषता यह है कि वे जिस पर कृपा करते हैं, उसके हृदय में यह बात नहीं पैठने देना चाहते कि उन्होंने कृपा की, अपितु वे यही बताना चाहते हैं कि तुम्हारे प्रति मेरे व्यवहार में कुछ कमी ही रह गयी है। यही बात हम श्री भरत के चरित्र में पाते

हैं। श्री भरत और निषादराज का जो मिलन होता है, उसके द्वारा गुरुदेव वसिष्ठ को धर्म की एक नयी व्याख्या मिल जाती है। ज्यों ज्यों गुरु वसिष्ठ श्री भरत को परखते जाते हैं, त्यों त्यों उन्हें अपने में न्यूनता का बोध होने लगता है। उन्हें लगता है कि 'मुझमें और श्री भरत में अन्तर है। मैं मुख से तो निषाद को रामसखा कहता हूँ, पर मेरे मन में उसके रामसखा होने की बात उतनी ध्यान में नहीं रहती, जितनी कि उसके निषाद होने की। और इसीलिए उसे आशीर्वाद देते समय मैंने उससे वर्णाश्रम के अनुकूल दूरी बनाये रखी। मुझमें यह साहस नहीं हुआ कि मैं भी उसे रामसखा के रूप में हृदय से लगा लूँ।' और फिर गुरुदेव इसका परिमार्जन भी करते हैं।

जब चित्रकूट में श्री भरत और भगवान् राम का मिलन हुआ, तो वह प्रेम से इतना पूर्ण था कि न तो श्री भरत को अपने भरत होने का भाव रहा और न श्रीराम को अपने राम होने का। वैसे प्रभु जब श्री भरत से मिलते हैं, तो कुशल-क्षेम पूछते हैं कि भरत, प्रसन्न तो हो। जब प्रभु लंका से लौटकर भरतजी से मिले, तो प्रभु ने पूछा, "भरत, कैसे हो ?"--

बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि। ७/४/ छं. २

--पर यहाँ चित्रकूट में प्रभु जब भरत से मिले, तब न तो कुशलक्षेम ही पूछा और न यह ही कि साथ में और कौन कौन हैं ? इन सब बातों की ओर प्रभु का भान ही नहीं था। इसका कारण यह है कि अयोध्या का मिलन

अधूरा मिलन है, जबकि चित्रकूट का, पूर्ण। अयोध्या का मिलन कभी पूर्ण नहीं हो सकता। वह तो बुद्धिराज्य का मिलन है, जबकि चित्रकूट का मिलन विशुद्ध प्रेमलोक का मिलन है। इसीलिए चित्रकूट का मिलन देख पार्वतीजी शंकरजी से कहती हैं, "भगवान् राम भरतजी से कुछ बोल नहीं रहे।"

शंकरजी ने कहा, "पार्वती, बोलना क्या बड़ी ऊँची बात है?"—

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा।
प्रेम भरा मन निज गति छूँछा॥ २/२४१/७

अगर भगवान् राम को यह भान रहे कि मैं राम हूँ और ये भरत हैं, तो बोलने-समझने की बात हो सकती है। पर जहाँ दोनों ओर न मन हो, न बुद्धि, न चित्त, न अहंकार, तो कौन किससे बोले?—

परम प्रेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई।
केहि छाया कबि मति अनुसरई॥ २/२४०/२-३

कौन पूछे और किससे पूछे?—'डूबै सो बोलै नहीं बोलै सो अनजान।' प्रेमरस की ऐसी ही अद्वितीय अवस्था होती है।

एक दिन श्रीकृष्ण ने एक सखी के मुख पर सुन्दर पत्रावली का निर्माण किया। प्राचीनकाल में मुख पर शृंगार किया जाता था, पत्रावली निर्मित की जाती थी। जब गोपी के मुख पर पत्रावली बन गयी, तो उसे बड़ा

गर्व हुआ कि श्रीकृष्ण मेरे सौन्दर्य के प्रति इतने आकृष्ट हैं कि उन्होंने मेरे मुख पर इतना सुन्दर चित्र बनाया। उसने सोचा कि इसे राधा को दिखाऊँ। श्रीराधा के पास जाकर बोली, 'देखो, मेरे मुख पर कितनी सुन्दर पत्रावली बनी है।"

राधाजी ने देखकर कहा, "हाँ, बड़ी सुन्दर हुई है।" और यह कहकर वे चुप हो गयीं। सखी ने सोचा था कि राधाजी उससे अवश्य पूछेंगी कि यह किसने बनायी। पर उन्हें कुछ न पूछते देख स्वयं बोल पड़ी—"जानती हो, इसे किसने बनाया है ?"

—"नहीं तो ?"

—"अच्छा, मैं ही बता देती हूँ। यह कृष्ण नें बनायी है।"

गोपी को विश्वास था कि यह सुन राधिका के अन्तःकरण में थोड़ी ईर्ष्या की भावना अवश्य जाग्रत् होगी। पर राधा ने केवल यह कहा—

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति।
कान्तस्वहस्तरचिता मम मंजरीभिः॥

—"सखी, इस बात का गर्व मत करो कि प्रियतम ने तुम्हारे मुख पर पत्रावली का निर्माण किया।"

—"क्यों न करूँ ? कृष्ण ने और किसी के मुख पर तो बनायी नहीं। मुझे सर्वश्रेष्ठ माना तभी तो इसे बनाया।"

इस पर राधा बोलीं, "नहीं, ऐसी बात नहीं। ऐसा शृंगार उन्होंने किसी और के मुख पर करने का भी

प्रयास किया था"--

अन्यापि कापि सखि भाजनमीदृशानाम् ।

--"किसके ?"

--"बस, इतना ही जान लो कि किसी के मुख पर करने की कोशिश की थी, पर वह हो नहीं पाया ।"

वास्तव में श्रीकृष्ण ने राधाजी के ही मुख पर शृंगार करने की चेष्टा की थी । जब वे रंग ले राधिकाजी के मुख पर पत्रावली बनाने चले, तो उनके दिव्य सौन्दर्य को देखकर इतने भावविह्वल हो गये कि उनके हाथ से तूलिका गिर पड़ी, रंग बिखर गया और अन्ततः पत्रावली नहीं बन पायी । अब वास्तव में भाग्यशाली कौन है ?-- वह, जिसके मुख पर पत्रावली बनी अथवा वह, जिसके मुख पर नहीं बन पायी ? जहाँ नहीं बन पायी, वहाँ प्रेम इतना था कि मन, बुद्धि और प्राण सब प्रेम में एकाकार हो चुके थे । एकाकार की उस दिव्य स्थिति में बाह्य-क्रिया का लोप हो गया था । जहाँ पत्रावली बनी, वहाँ तो बुद्धि स्थित और जाग्रत् थी । तो, वैसे ही श्री भरत और भगवान् राम का जब मिलन हुआ, तब मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार प्रेम के उस विशाल मुद्र में डूब गये। उस समय न राम रहे और न भरत । एकमात्र केवल रह गया प्रेम--

प्रेम भरा मन निज गति छूँछा ।

बस, रामायण तो यहीं समाप्त हो जाती है, क्योंकि न राम भरत से बोल रहे हैं और न भरत श्रीराम से ।

दोनों प्रेमरस में डूबे हुए हैं। और डूबनेवाले को उठाता कौन है ?—केवट। केवट ने देखा कि ये दोनों ऐसे डूबे हैं कि इन्हें गुरुदेव और अन्य लोगों के आने की ओर ध्यान ही नहीं है। तब एक अनोखी बात होती है। आज तक बहुतों ने यह जाना था कि गुरु के द्वारा भगवान् की प्राप्ति होती है, पर एक केवट गुरु को भगवान् की प्राप्ति कराये यह एक अनोखी घटना थी। गुरु वसिष्ठ कहीं दूर खड़े थे। श्री भरत को यह बताने का ख्याल ही नहीं रहा कि गुरु वसिष्ठ भी आये हैं तथा भगवान् भी यह पूछना भूल गये कि साथ में कौन कौन आये हैं। दोनों तो प्रेम-रस में डूबे हुए हैं। इन डूबे हुओं को निकालने के लिए केवट को लम्बा रस्सा लगाना पड़ा। वे पास जाते हैं और हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं—

> तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि।
> जोरि पानि बिनवत प्रनामु करि।। २/२४१/८

फिर धीरे धीरे डूबे हुए प्रभु को निकालना शुरू करते हैं। पहले कहते हैं, "प्रभु, मुनि वसिष्ठ साथ आये हुए हैं"—'नाथ साथ मुनिनाथ।' फिर कहते हैं, "यही नहीं, सभी माताएँ भी आयी हैं"—'मातु सकल।' अन्त में कहते हैं, "नगरवासी, सेवक, सेनापति, मंत्री सभी आपके वियोग से व्याकुल होकर आये हैं"—

> नाथ साथ मुनिनाथ के मातु सकल पुर लोग।
> सेवक सेनप सचिव सब आए बिकल बियोग।। २/२४२

ज्योंही प्रभु ने यह सब सुना तो,गोस्वामीजी कहते हैं,

भगवान् राम अब बदल गये। पहले जब भरत आये, तब राम कौन थे ? --'उठे रामु सुनि पेम अधीरा' (२/२३९/८) --उस समय ये प्रेमाधीर राम थे, और अब--

सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू।
सिय समीप राखे रिपुदवनू॥
चले सबेग रामु तेहि काला।
धीर धरम धुर दीनदयाला॥ २/२४२/१-२

--ये अधीर राम नहीं, ये धीर राम हैं। पहले 'प्रेमी' राम थे, अब 'धर्मी' राम हैं।

गुरहि देखि सानुज अनुरागे।
दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥ २/२४२/३

प्रभु दौड़कर जाते हैं और गुरु वसिष्ठ के चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हैं। गुरुदेव उनको हृदय से लगा लेते हैं। निषादराज फिर से गुरुदेव को प्रणाम करते हैं। निषाद-राज में कोई अहंकार नहीं। इस बार फिर उन्होंने अपनी वर्णधर्म-परम्परा का पालन करते हुए दूर से ही गुरुदेव को प्रणाम किया--

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू।
कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥ २/२४२/५

किन्तु गुरुदेव आज बदल · इस प्रेमभूमि में आकर, श्री भरत और भगवान् राम के सान्निध्य में आकर उनमें इतना परिवर्तन आ गया है कि उन्होंने अब निषादराज को दूर से ही आशीर्वाद नहीं दिया, वरन् वे दौड़े हुए आगे बढ़े। निषादराज को घबराहट हुई कि यह क्या हो

रहा है ? गुरुदेव मर्यादा को कैसे भूले जा रहे हैं। लेकिन--

राम सखा रिषि बरबस भेंटा ।
जनु महि लुठत सनेह समेटा ।। २/२४२/६

--गुरुदेव ने उसे जबरदस्ती हृदय से लगा लिया । मानो जमीन पर लोटते हुए प्रेम को समेट लिया हो ।और तव--

नभ सराहि सुर बरसहिं फूला ।। २/२४२/७

गुरुदेव के इस कार्य की सराहना करते हुए देवता आकाश से फूल बरसाने लगे । गोस्वामीजी लिखते हैं--

एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं ।
बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं ।। २/२४२/८

--इसके समान नीच जाति का संसार में कौन है तथा गुरु वसिष्ठ जैसा श्रेष्ठ कौन है ? फिर भी--

जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ ।। २/२४३

--जिस निषाद को देखकर मुनिराज वसिष्ठ लक्ष्मण से भी अधिक आनन्दित होकर उससे मिले यह सब सीतापति श्रीरामचन्द्र जी के भजन का प्रत्यक्ष प्रभाव और प्रताप है । गुरु वसिष्ठ और निषाद का मिलन राम-प्रेम के उस केन्द्र में है, जहाँ किसी प्रकार का अलगाव नहीं, जहाँ दो वर्णों की अलग अलग मर्यादाएँ आकर एकरस हो गयी हैं । और इस केन्द्र के मूल में जो व्यक्ति है, वह है--प्रेममूर्ति श्री भरत ।

❂

श्रीरामकृष्ण के माता-पिता

नित्यरंजन चटर्जी

(अनुवादिका– कु० अंजलि राय चौधुरी*)

(गतांक से आगे)

इसी तरह दिन बीतते गये। शीत के बाद वसन्त का आगमन हुआ। फागुन का महीना आधा। धरती नये रंग में रँगकर झूम उठी। वृक्ष अपनी शाखाओं पर नन्हे नन्हे किशलयों का स्पन्दन अनुभव करने लगे। धरती और आकाश नाना प्रकार के रंगों में रँग गये। चन्द्रमणि श्रीरघुवीर के लिए भोग तैयार कर रही थीं कि अचानक प्रसव-वेदना उठी। वे बेचैन हो गयीं। अब क्या होगा? रघुवीर का भोग कौन पकाएगा? क्षुदिराम ने उन्हें आश्वस्त किया––"डरने की क्या बात है? जो आ रहे हैं, वे कभी भी रघुवीर की सेवा में विघ्न नहीं डालेंगे। तुम निश्चिन्त हो जाओ। कल से रघुवीर की सेवा और भोग तैयार करने के लिए मैंने आदमी नियुक्त कर लिया है।"

सारा दिन निर्विघ्न कट गया। रात भी लगभग खत्म होने को आयी। ब्राह्ममुहूर्त। चन्द्रमणि को प्रसव-वेदना शुरू हुई। धनी लुहारिन घर पर ही थी। वह चन्द्रमणि को लेकर धान कूटने के घर में घुसी। बड़ी सरलता से प्रसव-क्रिया सम्पन्न हो गयी। शिशु का रूप देख धनी मुग्ध हो गयी। इतना रूप! यह तो मनुष्य का नहीं हो सकता? प्रसूता की देखभाल कर जब वह

---

*पिछले अंक में भूल से अनुवादिका के नाम में 'अंजलि' के बदले 'अंजिल' छप गया है, जिसका हमें खेद है।––सं०

शिशु की ओर मुड़ी, तो धनी चौंक उठी। यह क्या? शिशु कहाँ गया? अभी तो यहीं था। सर्वनाश! धनी ने सिर थाम लिया। बत्ती लेकर घर का कोना कोना ढूँढ़ने लगी। अरे! बच्चा यहीं तो है। उसने चैन की साँस ली। फिसलकर वह धान उबालने की भट्ठी में पड़ गया था। सारी देह में राख लग गयी थी। जीवन के प्रारम्भ में ही शिशु ने त्याग का चिह्न धारण कर लिया था! धनी ने बच्चे को दोनों हाथों में उठा लिया। कितना बड़ा था वह, जैसे छह महीने का शिशु हो! लड़के को देखकर धनी का मन नहीं भर रहा था। कितना सुन्दर, कितना मोहक! ब्राह्ममुहूर्त की शंख-ध्वनि ने परम-पुरुष के आविर्भाव की घोषणा की। पूर्व का आकाश बाल-सूर्य की दीप्ति से भर उठा। वृक्ष की शाखाएँ विहगों के कूजन से गूँज उठीं और मन्दिरों में प्रात:काल के अनुष्ठान की घण्टा-ध्वनि होने लगी। रात्रि का शेष था और प्रभात का आरम्भ, और इसी के बीच चन्द्रमणि की गोद को आलोकित करते हुए मर्त्य-धाम में अवतीर्ण हुए नररूपी नारायण–उत्तरकाल के युगदेवता,परम-पुरुषश्री रामकृष्ण। वह बुधवार का दिन था––१७ फरवरी, १८३६ ई०।

विष्णु के अष्टम अवतार थे श्रीकृष्ण, उन्होंने कारा-गृह में जन्म ग्रहण किया था। वे देवकी के अष्टम गर्भ की सन्तान थे। यशोदा ने शिशु एवं बालक कृष्ण का पालन-पोषण किया था, उन्हें अपने पुत्ररूप में ग्रहण किया था। हर घड़ी वे पुत्र की अमंगल-आशंका से शंकित

हो उठती थीं। वे कैसे जान पातीं कि जिनके लिए इतनी आशंकाएँ हैं, वे समस्त मंगल-अमंगल के धारणकर्ता हैं। यशोदा बालक के बल-बुद्धि का परिचय पाकर विस्मत हो उठतीं थीं। नटखट बालक को दण्ड देने के लिए रस्सी से बाँधते समय नाना प्रकार की अघटित घटनाएँ घटतीं, उन्हें अलौकिक दर्शन होते। फिर भी उन्होंने बालक श्रीकृष्ण को अपने वात्सल्य में लपेटकर मनष्यरूप में ही ग्रहण किया था। चन्द्रमणि ने भी ऐसा ही किया। शिशु को उन्होंने साधारण मानव-शिशु के रूप में ही देखा। पुत्र की मंगल-कामना के लिए वे बार-म्बार गृहदेवता रघुवीर से विनती करतीं।

बच्चे को गोद में ले चन्द्रमणि धूप सेंक रही हैं, पर यह अचानक क्या हुआ? शिशु का भार इतना कैसे हो गया कि उसे उठाने में वे अपने आपको असमर्थ पा रही हैं? जल्दी से बच्चे को सूप में लिटा दिया गया। उसके वजन से सूप भी टूटने लगा। वे चिल्ला उठीं। धनी लुहारिन दौड़ी आयी। सूप के पास बैठकर उसने कोई मंत्र पढ़ा। बस, त्योंही सब ठीक हो गया। चन्द्रमणि की जान में जान आयी। और एक दिन की बात। चन्द्रमणि बच्चे को मसहरी में लिटाकर घर का काम-काज कर रही थीं। कुछ समय बाद कमरे में प्रवेश करते ही देखा कि मसहरी में बच्चा नहीं है, उसकी जगह एक दीर्घकाय पुरुष लेटा हुआ है। चन्द्रमणि ने बार-बार आँखें मलकर देखा। वे दौड़ती हुई क्षुदिराम पास जाकर बोलीं,

"देखो तो, यह कैसा सर्वनाश हो गया ?" "क्या हुआ ? इतनी घबरायी हुई क्यों हो ? चलो, चलकर देख लेते हैं," कहते हुए क्षुदिराम चन्द्रमणि के साथ कमरे के भीतर आये। चन्द्रमणि ने विस्मय से देखा कि बालक वैसा ही मसहरी में लेटा हुआ है, जैसा उसे लिटा दिया गया था। क्षुदिराम मन्द मन्द मुसकराते हुए निकल आये। 'रघुवीर' के सामने आकर खड़े हुए, हाथ जोड़कर निवेदन किया--"प्रभो ! तुम्हारी अपार लीला का अन्त नहीं पा सकता !"

क्षुदिराम की गृहस्थी गरीब की है। फिर भी थोड़े दूध की व्यवस्था होनी ही चाहिए। क्षुदिराम सोच में पड़ गये। रघुवीर की मूर्ति की ओर देखकर बोले, "मेरा अपराध मत लेना, प्रभु; स्वप्न दिखाकर मेरे घर में तुम आविर्भूत हुए, तुमने मुझे धन्य किया, पर अपनी व्यवस्था आप ही करना भूलना नहीं।" रामचाँद को क्षुदिराम के पुत्र के जन्म का समाचार मिला था। मामा की अवस्था का विचार कर उन्होंने एक दुधारू गाय कामारपुकुर भेज दी। क्षुदिराम ने चैन की साँस ली। चन्द्रमणि प्रसन्न हो उठीं।

दिन बीतते गये। क्षुदिराम ने पुत्र का नाम 'गदाधर' रखा। चार-पाँच वर्ष बीत गये। इसी बीच सबसे छोटी लड़की सर्वमंगला का जन्म हुआ। पिता की स्नेहपूर्ण गोद में गदाधर की शिक्षा शुरू हुई--देवी-देवताओं के स्तोत्र, रामायण की कहानी, पुराण के उपाख्यान, यही सब। अद्वितीय मेधा थी बालक की। एक बार जो सुनता,

वही मन में पैठ जाता।

गाँव में ही लाहा बाबू की पाठशाला थी। गदाधर की शिक्षा वहीं प्रारम्भ हुई। ब्रजेन्द्रनाथ सरकार की देखरेख में उसने गणित-जोड़-भाग के सवाल तो थोड़े-बहुत सीखे, पर बाकी (वियोग) के सवाल किसी तरह उसके दिमाग में नहीं घुसे। जो हमेशा ही योगमग्न है, उसके लिए वियोग की अवस्था अकल्पनीय है, वियोग-विच्छेद तो उसके लिए बोधगम्य हो ही नहीं सकता। पूर्ण में से पूर्ण निकल जाने पर पूर्ण ही तो रहता है! पाठशाला से छुट्टी होने पर गदाधर इधर-उधर घूमता रहता। साधु-सन्तों से भेंट हो जाती तो उसके आनन्द का ठिकाना न रहता। विभोर होकर वह उन्हीं लोगों में रमा रहता। कभी धोती को कौपीन की तरह बाँध, सारे अंगों में विभूति रमाये घर आता, तो माता सिहर-कर पूछ उठतीं, "यह क्या किया तूने?" "साधु हो गया हूँ न," हँसते हुए गदाधर लोटपोट हो जाता। एक अज्ञात भय से चन्द्रमणि के प्राण काँप उठते। पुत्र के शरीर पर अपना स्नेह-हस्त फेरते हुए रघुवीर के सामने मंगलकामना करतीं।

एक दिन गदाधर गौ चराते व्रजबालक का स्वाँग कर रहा था कि वह भावविभोर हो गया। सारे साथी चिन्ता के मारे व्याकुल हो उठे। एक ने आकर कान में 'कृष्ण'-नाम सुना दिया। जिस नाम से भावसमाधि हुई थी, उसी नाम से समाधि से मुक्ति भी हुई। गदाधर को

इस तरह की समाधि अब अक्सर होने लगी। क्षुदिराम चिन्तित हो उठे। चन्द्रमणि सोच में पड़ गयीं। शान्ति-स्वस्त्ययन आदि कराया गया, दवा-दारू की व्यवस्था हुई, पर रोग दूर न हुआ। एक दिन क्षुदिराम गृहदेवता रघुवीर की सेवा में बैठे हुए थे, गदाधर कहीं से दौड़ा हुआ आया और रघुवीर की बगल में बैठ गया। उसके बाद रघुवीर की माला उसने अपने गले में डाल ली और शरीर पर श्वेत चन्दन का लेप कर लिया। रघुवीर को प्रणाम करके क्षुदिराम ने जब आँखें खोलीं, तो स्वप्न साकार हो उठा। उन्होंने पुत्ररूपी विष्णु की वन्दना की। शान्ति से उनका हृदय पूर्ण हो उठा।

क्षुदिराम का शरीर जर्जर हो गया था। रामचाँद ने सेलामपुर के अपने घर में दुर्गोत्सव का आयोजन किया था। उन्होंने इस अवसर पर अपने स्नेही मामा को आमंत्रित किया था। क्षुदिराम की वहाँ जाने की इच्छा हुई। रामकुमार को साथ ले वे सेलामपुर गये। नवमी के दिन वे अचानक बीमार पड़ गये। उसके बाद एक-दो बार रघुवीर के नामोच्चारण के साथ ही सब कुछ समाप्त हो गया। गदाधर उस समय मात्र सात वर्ष का था।

क्षुदिराम की मृत्यु का समाचार पा चन्द्रमणि शोक-मग्न हो गयीं। घर में भी अभाव और दुःख-दुर्दशाएँ बढ़ गयी थीं। उनका भी जीवन के प्रति मोह न रहा, पर पुत्र गदाधर और कन्या सर्वमंगला के लिए उनको जीना होगा। अतः अन्तर्वेदना को भीतर ही छिपाकर वे घर के

कामकाज में लग गयीं। बच्चों की देखभाल और रघुवीर की सेवा में वे अपने दुःख को भुलाने का प्रयत्न करने लगीं। पिता की मृत्यु के पश्चात् गदाधर में भी बड़ा परिवर्तन हो गया। सारा दिन वह अपनी स्नेहमयी जननी के पास रहता और घर के कामकाज में उनकी सहायता करता। पर उसका मन था अनासक्त। अज्ञात की पुकार सुन कभी कभी वह निकल पड़ता, 'भूतों की पोखरी' वाले श्मशान में या फिर माणिक राजा की अमराई में। गाँव के सभी लोग गदाधर को चाहते थे। उसने सभी को वशीभूत कर लिया था——उन सबके लिए वह प्यार का 'गदाई' था। गदाई को निकट पाकर चन्द्रमणि भी अपना शोक भूल जातीं।

पाठशाला तो नियमित रूप से चल रही थी, पर गदाधर का मन पाठशाला में न लगता। छुट्टी होते ही वह यहाँ-वहाँ घूमता फिरता। कभी कुम्हारों के मुहल्ले में जाकर मग्न हो मूर्तियों को बनते देखता। फिर कभी स्वयं ही भगवान् की मूर्ति गढ़ने लगता, जैसे वह एक निपुण मूर्तिकार हो। एक बार देख लेने पर वह सब कुछ सीख लेता। सर्वोपरि, साधुओं की संगति तो थी ही। चन्द्रमणि आतंकित हो उठतीं, अज्ञात शंकाओं से उनका मन भर उठता——"अगर साधु-फकीर लोग बच्चे को बहकाकर ले गये तो?" एक दिन चन्द्रमणि अपने को रोक न सकीं। वे गदाधर से ही शिकायत के स्वर में कह उठीं, "देखो बेटा, उन साधु-सन्तों और फकीरों के

पास मत जाया करो । कौन जाने किसके मन में क्या है ?" गदाधर हँसते हँसते लोटपोट हो गया, बोला, "मेरे लिए तुम बहुत अधिक चिन्ता करती हो, माँ ! मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा ।" गदाई से चन्द्रमणि की चिन्ता की बात सुन एक दिन कुछ साधु उनके पास आये और बोले, "देखो माई, तुम्हारा बेटा शुद्ध प्रकृति का है । उसे कभी फँसाकर ले जाने का विचार हम लोगों के मन में नहीं आया । ऐसा घोर पाप हम लोग नहीं करेंगे, निश्चिन्त रहो ।" यह सुन माता की सारी आशंका दूर हो गयी ।

एक दिन गदाधर श्री विशालाक्षीदेवी के दर्शन करने आनुर ग्राम आया । साथ में धर्मदास लाहा की बेटी प्रसन्नमयी भी थी । अचानक गदाधर को जाने क्या हुआ, वह बीच रास्ते में अचेत हो गया । चन्द्रमणि ने सब सुना, सोचा वायुरोग होगा ।

गदाधर नौ वर्ष का हुआ उपनयन-संस्कार का समय आ गया । रामकुमार के साथ परामर्श कर चन्द्रमणि ने उपनयन का दिन निश्चित किया । यथाविधि उपनयन-संस्कार समाप्त हुआ । दीक्षा के पश्चात् भिक्षापात्र ले बटुक वेश में गदाधर खड़ा हुआ । माता चन्द्रमणि भिक्षा ले आगे बढ़ीं । विधान के अनुसार माँ से ही सर्वप्रथम भिक्षा लेनी पड़ती है । पर गदाधर ने धनी लुहारिन को वचन दिया था कि वह उसी से सबसे पहले भिक्षा लेगा । रामकुमार चौंक उठे । ऐसी अजीब बात तो कभी सुनी नहीं । निम्न जाति की स्त्री से ब्राह्मणकुमार प्रथम भिक्षा

ले ! यह कैसे सम्भव है ? गदाधर से उन्होंने कितना अनुरोध किया, विनती की; परन्तु वह किसी भी तरह राजी न हुआ। पिता से गदाधर ने शिक्षा पायी थी कि सत्य से कभी हटना नहीं चाहिए। वह पहाड़ की तरह अचल-अटल बना रहा। विवश हो रामकुमार को मानना पड़ा। धनी लुहारिन के आनन्द का क्या कहना। इसी दिन की प्रतीक्षा में तो उसने कौड़ी कौड़ी जोड़कर पैसा इकट्ठा किया था। गदाधर ने भिक्षापात्र उसके सामने बढ़ा दिया और धनी ने अपनी सारी पूँजी उसमें उँड़ेल दी। अद्भुत दृश्य है ! विश्व का अधीश्वर आज याचक बनकर एक सामान्य ग्राम्य ललना के सामने खड़ा है ! जिसकी थोड़ीसी कृपा पाने के लिए योगीगण युग युग तपस्या किया करते हैं, आज वही धनी लुहारिन की कृपा का याचक बनकर खड़ा है !

गदाधर आजकल कुछ उदास-सा रहने लगा है। पढ़ने-लिखने में एकदम मन नहीं लगता। पता नहीं किस चिन्ता में सारा दिन डूबा रहता है। मँझले भाई रामेश्वर और छोटी बहन सर्वमंगला का विवाह हो चुका है। बड़े भाई रामकुमार की पत्नी गर्भवती है। अज्ञात आशंकाओं से रामकुमार का मन भर उठा, क्योंकि उन्हें ज्योतिष से ज्ञात हुआ था कि प्रसव के समय पत्नी का मृत्युयोग है। घर में अमंगल की छायाएँ मँडराने लगीं। उस घर की परम्परा के अनुसार, रघुवीर की सेवा से पहले कोई पानी तक नहीं पीता था। रामकुमार की पत्नी ने इसके

विरुद्ध आचरण किया। विधि का विधान कौन मेट सकता है ? एक पुत्ररत्न को जन्म दे प्रसूतिगृह में ही रामकुमार की पत्नी के प्राणपखेरू उड़ गये।

घर की बहू असमय में ही चल बसी, अतः सारा उत्तरदायित्व चन्द्रमणि पर आ पड़ा। उन्होंने नवजात शिशु को अपने सीने से लगा लिया। उनकी अवस्था भी पर्याप्त हो चली थी, फिर भी इस जिम्मेदारी को रघुवीर की इच्छा समझ उन्होंने उसे अपने ऊपर ओढ़ लिया। घर की आमदनी कम हो गयी थी। रामकुमार इस भार से दब गये। रामेश्वर अपने में लीन रहने वाले आदमी थे, वे बेफिक्र रहते। मजबूर हो माँ का आशीर्वाद ले रामकुमार रोजी-रोटी की तलाश में कलकत्ते की ओर रवाना हुए। अब गदाधर को देखने वाला कोई न था। अतः वह बिलकुल स्वतंत्र हो अपनी मौज में इधर-उधर घूमा करता। सांसारिक उलट-फेर का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बालक की इस उदासीनता से चन्द्रमणि चिन्तित हुईं। गाँववाले सभी गदाई को प्यार करते, उसके मुख से रामायण-गान, महाभारत, प्रह्लाद-चरित्र, ध्रुवोपाख्यान सुनना पसन्द करते। गदाई कभी पुरुष के वेश में रहता तो कभी नारी के। जब वह नारी का वेश धारण करता, तो किसी को भी उसके पुरुष होने का सन्देह नहीं हो सकता था।

बनियों के मुहल्ले में एक दुर्गादास पाइन थे। वे बड़े कट्टर मिजाज के आदमी थे। उनके घर की स्त्रियों का

अन्तःपुर से बाहर आना मना था। और न कोई बाहर का पुरुष उनके घर की स्त्रियों से बात कर सकता था। इस बात का दुर्गादास को बड़ा घमण्ड था। एक दिन गदाधर जुलाहिन के वेश में उनके घर आया। दुर्गादास को तनिक भी सन्देह नहीं हुआ, उसे अन्तःपुर में जाने की आज्ञा दे दी। अन्तःपुर में स्त्रियों के बीच बातें करते काफी रात बीत गयी। चन्द्रमणि चिन्ता में पड़ गयीं कि गदाई अभी तक लौटा कैसे नहीं। चारों ओर गदाधर की खोज में आदमी भेजे गये। रामेश्वर भी भाई की खोज में निकले। वणिकों के मुहल्ले में आकर जब रामेश्वर ने जोरों से 'गदाई' कहकर पुकारा, तो गदाधर दुर्गादास के घर के भीतर से बोल उठा—"आ रहा हूँ, भैया !" और ऐसा कह वह दौड़कर बाहर निकल आया। घर की स्त्रियाँ अवाक् रह गयीं। दुर्गादास का अभिमान चूर चूर हो गया।

कलकत्ते में रामकुमार की चतुष्पाठी में छात्रों की संख्या बढ़ चली। आमदनी भी कुछ बढ़ी। वे वर्ष के अन्त में एक बार कामारपुकुर आते थे। इस बार आकर उन्होंने पढ़ने-लिखने में गदाधर की उदासीनता देख चन्द्रमणि से कहा, "माँ, गदाई तो यहाँ बिल्कुल भी पढ़-लिख नहीं रहा है। अच्छा हो कि वह मेरे साथ कलकत्ता चला चले। मुझे भी सहायता मिलेगी और उसकी भी पढ़ाई हो जायगी।" चन्द्रमणि राजी हो गयीं। अतः बड़े भाई के साथ गदाधर कलकत्ता चला आया। यह सन्

१८५३ ई० की बात है।

१८५६ ई० में रानी रासमणि ने दक्षिणेश्वर के मन्दिर का निर्माण करवाया। वहाँ भवतारिणी माँ काली की मूर्ति की प्रतिष्ठा की गयी। मन्दिर में रामकुमार पुजारी होकर आये, साथ में गदाधर भी आये। गदाधर को देख रानी रासमणि के दामाद मथुरामोहन विश्वास भी उत्फुल्ल हो उठे। दोनों के मेल से मानो मणि-कांचन योग साधित हुआ।

१८५७ ई० में रामकुमार की मृत्यु हो गयी। रानी का तीव्र आग्रह देख गदाधर ने पुजारी का पद सँभाला। धीरे धीरे मन्दिर 'माँ', 'माँ' की व्याकुल पुकार से गूँज उठा। भक्त के आकुल आह्वान से विश्वजननी का हृदय रो उठा। मृण्मयी मूर्ति ने चिन्मयी के रूप में भक्त को दर्शन दिये और गदाधर भाव-समाधि में निमग्न हो गये।

कामारपुकुर में खबर आ पहुँची कि गदाधर पागल हो गया है और माँ-माँ कहकर चिल्लाता रहता है। चन्द्रमणि बेचैन हो उठीं। माँ के प्राण ही तो हैं। पुत्र के अमंगल की आशंका से उनका हृदय काँप उठा। उन्होंने बार बार रामेश्वर से चिट्ठियाँ लिखवायीं—"कामारपुकुर चले आओ, यहाँ आते ही तुम ठीक हो जाओगे। मेरे बेटे, कितने दिनों से तुम्हें नहीं देखा!" माँ की पुकार क्या व्यर्थ हो सकती है? गदाधर कामारपुकुर आये।

"कैसी हालत बना ली है अपनी ?" कहते हुए चन्द्रमणि का कण्ठ भर आया। आँख के तारे को निकट पाकर माँ ने उसे स्नेह और आशीर्वाद से भर दिया। घर आकर गदाधर कुछ शान्त तो हुए, पर कब तक के लिए ? फिर वही बेचैनी शुरू हो गयी--वही माँ-माँ की पुकार, वही बाहरी ज्ञानशून्यता। चन्द्रमणि गदाई की ओर देखतीं और सोचतीं--क्या पागल होने से कोई इस तरह प्यार कर सकता है ? इसकी माँ-माँ की पुकार में जाने कैसा जादू है ? प्राण आकुल हो उठते हैं। गदाई जब स्वाभाविक अवस्था में लौट आता है, तो कहीं कोई गड़बड़ी नहीं रहती। शायद किसी भूत-प्रेत की इस पर छाया पड़ गयी है।" अज्ञात आशंका से उनका हृदय काँप उठा। ओझा-गुनी लाये गये; बत्ती जलाकर गदाधर को सूँघने के लिए दिया गया। गदाधर हँसे--निर्बोध है यह ओझा, यह क्या समझेगा कि भावोन्मत्तता क्या है ? ओझा हार गया, बोला भूत उतारना होगा। भूत उतारने वाला मांत्रिक आया। हारकर वह भी लौट गया, पर कह गया कि गदाधर को कोई बीमारी नहीं है। चैन मिला गदाधर को, चन्द्रमणि भी प्रसन्न हो उठीं। गदाधर का फिर से मैदान, घाट और श्मशानों में घूमना शुरू हो गया।

गाँव के बड़े-बूढ़ों ने कहा, "गदाधर की शादी कर दो, पागलपन ठीक हो जायगा।" रामेश्वर के साथ सलाह कर चन्द्रमणि ने कन्या की खोज शुरू कर दी। कहीं

लड़की पसन्द आयी, तो घर ठीक नहीं था; कहीं घर ठीक था, तो लड़की पसन्द न आयी। गदाई के कानों में भी बात पहुँची। माँ से उन्होंने कहा, "मेरे लिए तुम लोग जहाँ-तहाँ लड़की खोजते क्यों फिर रहे हो, जयराम-वाटी के रामचन्द्र मुखर्जी की लड़की मेरे लिए चिह्नित की हुई रखी है; जाकर देख आओ।" चन्द्रमणि ने आदमी भेजा। एक ही बार में सब कुछ तय हो गया। चन्द्रमणि ने चैन की साँस ली। तीन सौ रुपये लड़की वालों को देना पड़ा। रुपये जुटाने में चन्द्रमणि को बड़ी परेशानी हुई, उस पर फिर लड़की को गहने देना है! लाचार हो उन्हें लाहा बाबू लोगों की शरण लेनी पड़ी।

सारदा के साथ गदाधर का विवाह हो गया। उधार लिये हुए गहनों से बहू को सजाकर चन्द्रमणि उसे घर ले आयीं। बड़े दिनों की उनकी साध पूरी हुई। पर अब चिन्ता भी हुई कि गहनों को लौटाने के लिए क्या किया जाय? यह सोच दुःख से उनकी छाती फटी ज ती थी कि वे कैसे नयी बहू को आभरणहीन करेंगी। माँ को चिन्तित देख गदाधर ने सारी बातें पूछकर जान लिया, बोले, "डरो मत, माँ! मैं सब गहने खोल लाऊँगा, तुम्हारी बहू को कुछ पता भी न चलेगा। मैं बाद में उसे नये गहने गढ़वा दूँगा।" चन्द्रमणि ने दीर्घ निःश्वास लिया। नयी बालिका-वधू को आभरणहीन देख लड़कीवाले क्षुब्ध हुए और वे सारदा को ले सीधे जयरामवाटी लौट गये। चन्द्रमणि व्याकुल हो उठीं—"अब क्या होगा, गदाई?

वे अगर अब लड़की को न भेजें तो ?" गदाधर हँस पड़े। "लड़की को न भेज वे जाएँगे कहाँ ? विवाह तो फिर नये सिरे से हो न सकेगा। तुम डरो मत, माँ ! समय होने पर मैं गहने गढ़वा दूँगा।" गदाधर ने अपना वचन पूरा किया था। अपने भानजे और सेवक हृदय से कहकर नये गहने गढ़वा दिये गये थे--हाथ के ऊपरी भाग के लिए ताबीज और कलाइयों के लिए कंगन।

कुछ दिन बीत गये। गदाधर जयरामवाटी जाकर सारदा को लिवा लाये। दोनों को एक साथ देख चन्द्रमणि के आनन्द की सीमा न रही। सोचा, अब उनके बेटे की बीमारी ठीक हो जायगी। प्यार से वे सारदा को भीतर ले गयीं। कामारपुकुर में सारदा को रख गदाधर दक्षिणेश्वर चले गये। वहाँ जाकर फिर पहले की सी दशा हो गयी। वही व्याकुलता, वही उन्माद ! मथुरबाबू ने बहुत इलाज करवाया; पर सब व्यर्थ हुआ। खबर पाकर चन्द्रमणि चिन्तित हो गयीं। पड़ोसियों में कानाफूसी होने लगी--"एक पागल से विवाह कराके लड़की बेचारी की जिन्दगी बरबाद कर दी।" चन्द्रमणि मन मारकर रह गयीं। आखिर माँ ही तो हैं ! उनका सारा अन्तर रो उठा। उन्होंने शिव मन्दिर में धरना दिया और जल तक ग्रहण न करते हुए वे पड़ी रहीं। आदेश मिला--"मुकुन्दपुर के शिवजी के पास जा।" चन्द्रमणि वहाँ भागी हुई पहुँचीं। सन्तान के कल्याण के लिए वे मरने को भी तैयार थीं। बिना खाये-पिये आमरण-प्रण ले वे

वहाँ पड़ी रहीं—"मेरे बच्चे को राजी-खुशी लौटा दो, नहीं तो मुझे ले लो।" चन्द्रमणि ने स्वप्न देखा देवाधि-देव महादेव खड़े हैं—अभय हस्त उठाकर; कह रहे हैं—"कोई डर नहीं, तेरा बेटा पागल नहीं है, उसके अन्दर ईश्वर प्रकट हुए हैं।" आश्वासन पाकर चन्द्रमणि घर लौट आयीं। गृहदेवता को प्रणाम कर उन्होंने प्रार्थना की—"भगवान्, उसकी तुम रक्षा करना।" जो त्रिभुवन के पालक हैं, उनकी सुरक्षा के लिए माँ की कैसी विनती, कितनी व्याकुलता!

चन्द्रमणि की अवस्था ढल चली थी। आयु के शेष दिन पुत्र के पास गंगामैया के किनारे बिताने की उनकी इच्छा हुई। फलतः वे दक्षिणेश्वर आ गयीं। गदाधर इस समय तक 'रामकृष्ण' नाम से ख्याति प्राप्त कर चुके थे। अद्वैत साधना के कारण उनका शरीर टूट चुका था। उन्होंने स्वास्थ्य सुधारने के लिए कामारपुकुर जाना तय किया। जब उन्होंने यह बात माता के समक्ष रखी, तो चन्द्रमणि ने कहा, "मैं और कहीं नहीं जाऊँगी, बेटा! गंगा किनारे अन्त के ये कुछ दिन बिता दूँगी।"

कामारपुकुर में छह महीने बिताकर कुछ स्वस्थ हो श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर वापस आये। उनके स्वास्थ्य में सुधार देख मथुरबाबू बड़े प्रसन्न हुए। फिर शुरू हुई तीर्थयात्रा। साथी हुए मथुरबाबू, हृदय तथा और भी कई लोग। विभिन्न तीर्थों का भ्रमण करते हुए सब लोग वृन्दावन आये। वहाँ 'गंगामाई' नाम की एक भक्तिमती

साधिका थी। श्रीरामकृष्ण को यह भक्तिपरायणा वृद्धा बड़ी अच्छी लगी। उन्होंने निश्चय किया कि वे वहीं उसके आश्रम में रह जाएँगे और दक्षिणेश्वर नहीं लौटेंगे। मथुरबाबू बड़ी मुश्किल में पड़े। हृदय भी व्याकुल हुए। हृदय ने प्रश्न किया, "यहाँ तुम्हारी देखभाल कौन करेगा?" श्रीरामकृष्ण ने सीधा सा जवाब दिया, "क्यों, गंगामाई जो हैं, मैं उसी के पास रहूँगा।" हृदय समझ गये कि मामा जल्दी सुनेंगे नहीं। उन्होंने चतुराई की, कहा, "मामा, यह तो ठीक है, पर नानी तुम्हारी बाट जोह रही होंगी वहाँ। तुम यदि वापस नहीं चलोगे, तो उन्हें क्या जवाब दूँगा?" सहसा जैसे उन्हें सुध हो आयी-- "सच ही तो, माँ मेरी राह देखती होगी।" बस, त्योंही हृदय को बुलाकर कहा, "चलो चलो, हृदू, दक्षिणेश्वर वापस चलें, माँ सब तीर्थों से बढ़कर है; 'स्वर्गादपि गरीयसी! माँ मेरी राह ताकती होगी!"

सारदा दक्षिणेश्वर आयीं। अरसे से पति के दर्शन नहीं हुए थे, पति की सेवा नहीं की थी। पैदल चलकर आने से शरीर भी टूट गया था। इलाज की आवश्यकता थी। रामकृष्ण व्यस्त हो उठे। चन्द्रमणि पहले कोठी के एक कमरे में रहती थीं, वहाँ रामकुमार का पुत्र अक्षय भी रहता था। अक्षय कुछ दिन पहले चल बसा। तब से चन्द्रमणि नौवतखाने के नीचे रहने लगीं। छोटी सी जगह थी, वह भी सामान और बर्तनों से भरी। असुविधा की बात उठाने पर वे कहतीं, "दूसरी कोठरी की जरूरत

नहीं, गंगा की ओर मुँह किये बैठी रहती हूँ, यही अच्छा है।" उसी के कमरे में सारदा भी रहने लगीं। बहुत दिनों बाद सास की सेवा का अवसर पाकर मन में तृप्ति का अनुभव किया।

पर सारदा बीमार थीं और माँ के कमरे में जगह की कमी थी। रामकृष्ण ने सारदा को अपने कमरे में रहने के लिए कहला भेजा। सारदा ने चन्द्रमणि से आज्ञा चाही। वे बोलीं, "जाओ बेटी, उसने तुम्हें बुलाया है।"

स्वास्थ्य में विशेष सुधार न देख सारदा ने कामारपुकुर लौट जाने का निश्चय किया। चन्द्रमणि ने सहमत होते हुए कहा, "जाओ बेटी, इस गृहस्थी की हालत तो देख ली, वहाँ की हालत भी देख आओ।" सारदा कामारपुकुर लौट गयीं। कुछ दिनों बाद ही दक्षिणेश्वर में खबर पहुँची, "रामेश्वर चल बसे।" श्रीरामकृष्ण तो अनासक्त थे, समझ गये कि "आयु समाप्त हो गयी है, फिर भी अग्रज की मृत्यु से व्यथित हुए। वे देख रहे थे कि एक एक करके सभी दीपक बुझ रहे हैं। पर उनकी समस्या यह थी कि माँ को यह मार्मिक समाचार वे कैसे सुनाएँगे। माँ यह पुत्रशोक कैसे सहन करेंगी ? वे दौड़कर भवतारिणी के मन्दिर में पहुँचे और रोते हुए बोले, "माँ! मेरी माँ को जब पुत्रशोक तूने दिया ही है, तब उसे सहन करने की शक्ति भी दे दे।" फिर वे शंकित हृदय से चन्द्रमणि के पास गये, भवतारिणी का स्मरण कर माँ को सब कुछ कह सुनाया। उन्होंने सोचा था कि माता

पुत्रशोक से विह्वल हो उठेंगी। पर यह क्या ? चन्द्रमणि ने चुपचाप सब कुछ सुन लिया। वृद्धा की आँखें आँसुओं से भीग उठीं। बोलीं, "बेटा, संसार अनित्य है; आज जो है, कल वह नहीं रहेगा। शोक करना व्यर्थ है।" माँ की बातों से रामकृष्ण की दोनों आँखें छलछला आयीं। चन्द्रमणि ने बेटे को ढाढ़स बँधाते हुए कहा, "छिः बेटा ! रोना नहीं चाहिए। तू कितना ज्ञानी है, बुद्धिमान है। तू ही अगर व्याकुल होगा तो और लोग क्या करेंगे ?"

काली की माँ ने चन्द्रमणि की देखभाल का भार लिया। चन्द्रमणि बुढ़ापे के बोझ से दब सी गयी थीं—फिर रामकुमार चला गया, रामेश्वर गया, छाती से लगाकर जिस अक्षय का पालन-पोषण किया था वह भी चला गया ! अब केवल आँखों का तारा गदाई ही जीवित है। उसे आँखों की आड़ करने से वे डरती थीं। एक ही बेटा तो जीवित है, उसके रहते अगर आँखें मुँद जाएँ तो उत्तम है। उन दिनों चन्द्रमणि हृदय को नहीं सह पाती थीं, क्योंकि हृदय का व्यवहार उतना अच्छा नहीं था। रामकृष्ण को बुलाकर एक दिन उन्होंने चुपचाप कहा, "उसकी बात मत मानना, गदाई ! उसी ने अक्षय को मार डाला है। वह अपना नहीं, दुश्मन है, दुश्मन।" रामकृष्ण माँ की बात सुनकर हँसे, सोचा शोकताप से माँ का हृदय विदीर्ण हो गया है।

रासमणिवाजार के पास ही आलमबाजार का कार-खाना है। उसमें दोपहर को भोंपू बजता है। चन्द्रमणि

कहतीं, "वैकुण्ठ में शंख बजा है, खाने को दो।" छुट्टी के दिन उन्हें मनाना बड़ा कठिन होता। उस दिन भोंपू नहीं बजता, और वैकुण्ठ की बंसी सुने बिना वे खाना किसी भी तरह नहीं खाना चाहती। उस दिन उन्हें खाना खिलाना आसान काम न होता। रामकृष्ण पास बैठ जाते और बच्चों की तरह उन्हें बहलाकर उनके मुँह में कौर डालते।

माता चन्द्रमणि के दर्शन किये बिना श्रीरामकृष्ण को चैन न मिलता। वे नित्य कुछ देर के लिए माँ के पास आते और उनकी सेवा करते। फिर कुछ देर माँ की बगल में गोद के पास सोये रहते। तृप्ति से वृद्धा का मन भर उठता। वे अपना स्नेहपूर्ण कम्पित शीर्ण हाथ उठाकर बेटे के शरीर पर फेरतीं। तब दोनों में कितनी बातें होतीं—घर की, माँ भवतारिणी की, कामारपुकुर की।

एक दिन हृदय ने घर जाने के लिए शोर मचाया। बिस्तरा बँध गया, टीन का बक्सा भी भर लिया गया। रामकृष्ण ने रोकते हुए कहा, "हृदू, कल ही समझ जायगा कि मैं तुझे क्यों रोक रहा हूँ।" नाराज हो हृदय ने सामान दूर फेंक दिया और जाकर सो गया।

प्रतिदिन सबेरे चन्द्रमणि काली की माँ को जगा देती थीं। उस दिन उनकी पुकार नहीं आयी। यह देख काली की माँ नौबतखाने की ओर आयी। देखा कि दरवाजे बन्द हैं। कई बार खटखटाने पर भी कोई आवाज न आयी। तब तो काली की माँ डर गयी और वह हृदय

को खबर देने गयी। हृदय भागता हुआ आया। रामकृष्ण आये। हृदय ने किसी प्रकार दरवाजे खोले। देखा चन्द्रमणि बेसुध पड़ी हैं। हृदय जल्दी से डाक्टर बुला लाया। मृत्यु और जीवन के बीच खींचातानी शुरू हो गयी। रामकृष्ण बूँद बूँद गंगाजल माँ के मुँह में डालते रहे। अन्तिम समय आ पहुँचा। चन्द्रमणि को गंगा-किनारे लाया गया। चालीस साल पहले जिस जननी के गर्भ से रामकृष्ण का जन्म हुआ था, आज पुण्यसलिला गंगा के किनारे उसी जननी के चरणों में वे फूल, चन्दन और तुलसी की अंजलि दे रहे हैं। चन्द्रमणि की दीर्घ पचासी वर्ष की जीवन-यात्रा आज यहाँ समाप्त हुई। यह १८७६ ई० की घटना है।

भतीजे रामलाल फूल लेकर आये, हृदय चन्दन ले आये। माँ के चरणों को गंगाजल से धोकर रामकृष्ण ने श्वेत चन्दन का लेप किया। उनकी दोनों आँखों मे आँसू उमड़ आये। एड़ेदा के श्मशानघाट में रामकृष्ण-जननी का अन्तिम संस्कार हुआ। रामकृष्ण संन्यासी थे, उनके लिए श्राद्ध आदि क्रियाएँ वर्जित थीं, पर माता के शव को मुखाग्नि उन्हीं ने दी। चिता की धधकती हुई शिखाओं ने पुण्यवती नारी की नश्वर देह को ग्रस लिया। धीरे धीरे अग्निशिखा निर्वापित हुई। सब कुछ समाप्त हो गया। रामलाल ने धूमधाम से अपनी पितामही का श्राद्ध किया।

रामकृष्ण माँ के नाम तर्पण करने की इच्छा ले गंगा में उतर आये। अनगिनत लोग भागीरथी के किनारे

उनका तर्पण देखने के लिए उत्सुक खड़े थे। पर ज्योंही श्रीरामकृष्ण ने अंजलि भरकर गंगाजल उठाना चाहा, वे असफल हुए। उँगलियाँ अपने आप टेढ़ी होकर उल्टी ओर मुड़ गयीं, सारा पानी गिर गया, थोड़ासा भी पानी हाथ में न बचा। बार बार कोशिश करने पर भी श्रीरामकृष्ण सफल नहीं हुए। मन रो उठा। समझ गये कि आध्यात्मिक जगत् के जिस स्तर पर वे पहुँच चुके हैं, उस स्तर से शास्त्र के नियमानुसार कोई कर्म करना अब उनके लिए सम्भव नहीं है।

धरती पर सन्ध्या उतर आयी। आकाश का वक्ष तारों की दीपमालाओं से सज उठा। पुण्य तोया भागीरथी पर म्लान छाया निबिड़ होने लगी। श्रान्त विहगकुल नीड़ों में वापस आ गये। भारी मन लेकर श्रीरामकृष्ण स्रोतस्विनी के निर्जन कूल पर चले आये और व्याकुल होकर रो पड़े। दोनों आँखों से अश्रुधारा बह चली—मातृऋण चुकाने का यही एक उपाय था। दूर दिगन्त में चन्द्रोदय हुआ, पर एकाएक एक काले बादल ने आसमान को ढक लिया। विषाद की कालिमा से दिगन्त आच्छादित हो गया।

माँ की बात याद करके श्रीरामकृष्ण कहते, "अरे, संसार में माता-पिता परम गुरु होते हैं। जब तक वे जीवित हों, बसभर उनकी सेवा करनी चाहिए और मरने पर शक्ति के अनुसार उनका श्राद्ध करना चाहिए। जो दरिद्र हैं, जिनके पास कुछ नहीं है, जो श्राद्ध नहीं कर

सकते, उनको जंगल में जाकर रोना चाहिए, तभी उनका ऋण चुकाया जा सकता है। मात्र ईश्वर के लिए माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया जा सकता है, उसमें कोई पाप नहीं। जैसे प्रह्लाद ने पिता के कहने पर भी हरि का नाम लेना नहीं छोड़ा; ध्रुव माता के मना करने पर भी तपस्या के लिए वन में चला गया। इससे उनका कोई अपराध नहीं हुआ।"

सारदामणि से एक दिन रामकृष्ण ने कहा, "गया जाकर माँ का पिण्डदान कर आओ।" सारदा चौंक उठीं, पुत्र के रहते यह आदेश क्यों ?--"तुम जो हो, तुम्हारे रहते मैं क्यों पिण्डदान करूँ ? यह कैसी बात है ?" परमपुरुष रामकृष्ण ने समझा दिया--"मेरे लिए गया जाना सम्भव नहीं। यह देह वहीं से आयी है; अगर मैं वहाँ जाऊँ तो शायद ही लौट सकूँ !" बूढ़े गोपाल को साथ ले सारदामणि ही गया गयी थीं और गदाधर विष्णु के चरणों में पिण्डदान कर आयी थीं।

पचासी वर्ष पहले बंगाल के किसी छोटे से गाँव में जिस बालिका का जन्म हुआ था, पूर्ण आयु प्राप्त कर आज उसकी जीवनलीला समाप्त हो गयी। उस दिन वह अकेली आयी थी। गाँव की एक सीधी-सादी, भोली-भाली बालिका के रूप में उसका पालन-पोषण हुआ था। उस दिन कौन जानता था कि इस बालिका का सृजन एक ऐसी सन्तान को जन्म देने के लिए हुआ है, जिसके चरणों में सारा विश्व सिर नवाएगा ? (समाप्त),

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) निर्बाधिता

'भक्तिविजय' के रचयिता सन्त महीपति पहले कुलकर्णी का काम करते थे। एक बार वे पूजा कर रहे थे कि जागीरदार का सिपाही उन्हें बुलाने आया। इससे पूजा में व्यवधान आया। सिपाही ने कहा कि कोई आवश्यक काम है और उन्हें शीघ्र चलने को कहा गया है। महीपति के लिए समस्या उत्पन्न हो गयी। यदि उठते हैं, तो पूरी पूजा हुई नहीं है और न जाएँ, तो जागीरदार नाराज हो जाएगा। आखिर पूजा पूरी किये बिना ही उन्हें उठना पड़ा।

काम करके वापस आने पर उन्होंने नहाकर फिर से पूजा की। उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ कि उन्हें पूजा पूरी किये बिना ही उठना पड़ा था। उन्होंने स्वयं को धिक्कारा कि यह जीवन भी कोई जीवन है, जिसमें अपनी इच्छानुरूप भगवान् की पूजा भी नहीं की जा सकती। उन्होंने तुरन्त नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और प्रतिज्ञा की कि लेखनी का उपयोग भगवान् का गुण-गौरव और सन्त-चरित्र लिखने में ही करेंगे। और उन्होंने इस प्रकार भक्तिविजय, भक्तलीलामृत, सन्तलीलामृत आदि की रचना की।

(२) गुरुनिष्ठा

एक बार सन्त दादू सन्त रज्जन एवं अन्य शिष्यों के साथ परिभ्रमण कर रहे थे कि रास्ते में एक नदी पड़ी।

वैसे नदी में पानी तो कम था, किन्तु कीचड़ इतना जम गया था कि नदी पार करना बड़ा कठिन था। तब शिष्य लोग पत्थर एकत्र करने लगे, किन्तु रज्जन बोले, "गुरुदेव, आप मेरे शरीर पर पैर रखकर उस पार हो जाइए", और वे सचमुच वहाँ लेट गये। सन्त दादू ने उन्हें उठने को कहा। रज्जन बोले, "आपके चरणों से मेरा यह शरीर पावन हो जाएगा। मेरे शरीर की उपादेयता इसी में है कि वह आपकी सेवा करता रहे।" दादू रज्जन की गुरुनिष्ठा देख बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे उठाया और गले लगाकर उसके प्रति आत्मीयता प्रकट की।

(३) पतितोद्धार

एक बार अष्ट छाप के सन्त कवि कृष्णदास किसी कार्यवश आगरा गये। वे सड़क से जा रहे थे कि उन्हें किसी युवती का कोमल स्वर सुनायी दिया। रसिक कवि भान खो बैठे और मधुर गान की ओर आकृष्ट हो चल पड़े। वास्तव में वह युवती एक वारांगना थी। उसका गाना सुनने पर उन्होंने निश्चय किया कि इसे श्रीनाथ जी के पदगान और नृत्यसेवा में समर्पित कराना चाहिए। वह वारांगना एक साधु पुरुष को आया देख आश्चर्यचकित हो गयी थी। कृष्णदास बोले, "यदि तुम श्रीनाथ जी के सामने नृत्य-गान करोगी, तो तुम्हें मुँह-माँगा धन मिलेगा।"

वह वारांगना एक अभिशापित जीव थी। उसने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। सचैल स्नान कर

वीणा उठा वह मन्दिर गयी। वीणा बज उठी, मृदंग गरज उठे और झाँझ की खन-खन ध्वनि में उसके पायल की ध्वनि झंकृत हो उठी। उसके कण्ठ से निम्न पंक्तियाँ निकल पड़ीं--

मेरो मन गिरिधर छवि पे अटक्यौ।
सजल स्याम घन वरन लीन है
फिर चित अन तन भटक्यौ।।

उसने यह व्यवसाय हमेशा के लिए त्याग दिया और अपने को भगवद्-भजन में लगा लिया।

(४) सच्चा शिष्य

दक्षिण भारत के प्रतिष्ठित सन्त स्वामी वादिराज जी के शिष्य थे तो अनेक, किन्तु उन्हें सबसे प्रिय थे कनकदास। अन्त्यज होते हुए भी स्वामी उससे प्यार करते हैं, यह देख अन्य शिष्य उससे ईर्ष्या करने लगे। बात वादिराज जी को मालूम हुई और उन्होंने उन सबकी परीक्षा लेने की सोची।

उन्होंने दूसरे दिन सबको एक एक केला देते हुए कहा कि इसे एकान्त में ही खाना और खाते समय यह ध्यान में रहे कि केला किसी को न दिखाई दे। अन्य शिष्यों ने तो केला खा लिया, किन्तु कनकदास के हाथ में वह ज्यों-का-त्यों रहा। स्वामीजी ने पूछा, "तुमने केला क्यों नहीं खाया?" कनकदास ने उत्तर दिया, "गुरुदेव! मैं खा कैसे सकता था? आपने कहा था कि एकान्त में खाना, मगर ऐसा एकान्त स्थान मुझे कहीं

दिखायी नहीं दिया, क्योंकि प्रभु तो सब जगह विराजमान हैं। इसी कारण मैं केला खा नहीं सका।" यह सुन सब शिष्य बड़े लज्जित हुए, क्योंकि उन्हें अब मालूम हो गया कि गुरुजी उससे क्यों इतना प्यार करते हैं।

(५) सच्चा भक्त

प्रवचन के बाद नीशापुर के सन्त अहमद से एक जिज्ञासु ने पूछा, "ईश्वर का सच्चा भक्त कौन है?" इस पर सन्त बोले, "सुनो, मैं तुम्हें एक दृष्टान्त देता हूँ। बहराम नामक मेरा एक पड़ोसी था। वह बड़ा ही धन-वान था। उसके कारवाँ लाखों रुपयों का माल लेकर बेचने के लिए विदेश जाते थे। एक बार रास्ते में डाकुओं ने उसका सारा माल लूट लिया।

"पड़ोसी होने के कारण मेरी उससे मित्रता हो गयी थी। लाखों रुपयों का नुकसान होने के कारण मैं उसके घर ढाढ़स बँधाने गया। सन्ध्या का समय था। भोजन का समय भी हो गया था। बहराम ने सेवकों को मेरे लिए भोजन लाने का आदेश दिया। मैंने उससे कहा, 'भाई! भोजन के लिए धन्यवाद। मैं तो तुम्हें सान्त्वना देने के लिए आया था।'

"इस पर बहराम बोला, 'हाँ, यह सच है कि मुझे काफी नुकसान हुआ है। यद्यपि डाकुओं ने मेरा माल लूटा है, मगर मैंने कभी किसी को नहीं लूटा। मैं ईश्वर का कृतज्ञ हूँ कि डाकुओं ने मेरी नश्वर सम्पत्ति का ही कुछ हिस्सा लूटा है। उन्होंने मेरी शाश्वत सम्पत्ति को

जरा भी हाथ नहीं लगाया। यह शाश्वत सम्पत्ति है—ईश्वर के प्रति मेरी आस्था। यही मेरे ज़ीवन की सच्ची सम्पत्ति है।' मेरी दृष्टि से बहराम ईश्वर का सच्चा भक्त है।"

(६) आत्मनिर्भरता

भारत के एक प्रसिद्ध संन्यासी यूरोप का दौरा कर रहे थे। एक दिन वे एक फिटन किराये पर लेकर डचेस द पीमा नामक एक फ्रांसीसी महिला के साथ पैरिस के बाहर एक गाँव में जा रहे थे कि रास्ते में कोचवान ने फिटन एक स्थान पर रोकी। सामने से एक नौकरानी कुछ बच्चों को लिये जा रही थी। कोचवान ने उन बच्चों से, जो किसी ऊँचे घराने के मालूम होते थे, लाड़-दुलार किया और वापस आकर फिर फिटन चलाने लगा।

अमीर बच्चों से इतनी अधिक घनिष्ठता देख डचेस को बड़ा कुतूहल हुआ और उसने कोचवान से पूछा, "ये बच्चे किसके हैं?"

कोचवान ने उत्साहित स्वर में जवाब दिया, "मेरे ही हैं। आपने बैंक का नाम तो सुना ही होगा। वह बैंक मेरी थी। घाटा होने के कारण मैं उसे चलाने में असमर्थ था। मैं नहीं चाहता था कि दूसरों पर भारस्वरूप बनकर जीवन बिताऊँ, इसलिए बैंक को बन्द कर मैंने यह पेशा अपनाया है।"

वह आगे बोला, "मैंने गाँव में एक मकान किराये पर लिया है, जहाँ बीवी-बच्चों के साथ रहता हूँ। घर

में एक नौकरानी भी है, जो बच्चों की देखभाल करती है। फिटन चलाने से जो आय होती है, उससे घर का गुज़ारा करता हूँ। कुछ लेनदारों से रकम वसूल करनी है। वह मिलने पर फिर से बैंक चालू करने की इच्छा है।"

स्वामीजी उसकी बातों से बड़े प्रभावित हुए। वे डचेस से बोले, "यह कोचवान सच्चा वेदान्ती है, क्योंकि इसने वेदान्त के भाव को जीवन में उतारने का प्रयास किया है। इसकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी, मगर दैव ने इसका साथ नहीं दिया। फिर भी इसने हिम्मत नहीं हारी, इस कारण इसे निश्चित रूप से सफलता मिलेगी।

•

पाठकों से विनम्र निवेदन

'विवेक-ज्योति' ने अपने गौरवशाली सोलहवें वर्ष में प्रवेश किया है। आप सब जानते हैं कि इसमें व्यावसायिक विज्ञापन नहीं लिये जाते। अत: ऐसी विशुद्ध आध्यात्मिक पत्रिका के प्रकाशन में हमें किन आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता होगा, इसका आप अनुमान लगा सकते हैं। हम अपने प्रबुद्ध एवं स्नेही पाठकों से निवेदन करते हैं कि आप अधिक से अधिक वार्षिक सदस्य बनाकर हमारे इस कार्य को अपना शुभ सहयोग प्रदान करें।

एक साथ पाँच सदस्य बनानेवाले सहयोगियों को 'विवेक-ज्योति' एक वर्ष तक नि:शुल्क प्रदान करने में हमें प्रसन्नता होगी तथा सौ सदस्य बनानेवाले सहयोगियों को विवेक-ज्योति की आजीवन सदस्यता सधन्यवाद प्रदान की जायगी।

——व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति

स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में (९)

"एक भक्त"

(स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्यों में सबसे छोटे थे। उनके संस्मरणों और उपदेशों के लेखक 'एक भक्त' उन्हीं के एक शिष्य हैं और रामकृष्ण संघ के संन्यासी हैं। ये संस्मरण बँगला में 'स्वामी अखण्डानन्देर स्मृतिसंचय' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख वहीं से गृहीत हुआ है।--स०)

सुबह के नौ बजे हैं। सारगाछी आश्रम के एक अन्तेवासी कार्यकर्ता अभी अभी बेलुड़ मठ चले गये। कुछ दिनों से वे मठ जाने के लिए व्यग्र हो रहे थे। उनके स्थान पर ज्योंही एक दूसरे कार्यकर्ता आये कि वे चले गये। बाबा ने कई प्रकार से उनसे अनुरोध किया कि श्रीरामकृष्ण-जयन्ती-महोत्सव तक रुक जाओ, कुछ काम-धाम करना न होगा, चुपचाप रहे रहो; बस, आठ-दस दिन की तो बात है--पर वे नहीं माने। उनके प्रणाम करके चले जाने पर बाबा मर्माहत हो बिस्तर पर लेटने चले गये और एक से पंखा झलने के लिए कहा। बड़े व्यथित स्वर में कहने लगे, "मेरे मन को जबरदस्त चोट पहुँचा-कर गया है--हृदय पर आघात हुआ है। उसे ठाकुर के नाम पर उत्सव तक और रह जाने के लिए कहा, फिर भी न रहा। शहर छोड़ गाँव में रहने से कष्ट होता है!"

० ० ०

बाबा एक सेवक से कह रहे हैं, "सोच रहे हो कि कुछ भी तो नहीं हो रहा है। सच कहता हूँ, उसी से मेरी बहुत सेवा हो जा रही है--असल सेवा। और तुम्हारा

भी बहुत कुछ हो जा रहा है। यह काम यदि तुम न करते, तो इसकी चिन्ता मेरे सिर पर होती। तुम पर भार देकर मैं निश्चिन्त हूँ--कम से कम इस बात में। कोई मेरी ओर नहीं देखता, सब अपना अपना ही लेकर व्यस्त हैं। क्या खाली शरीर की सेवा ही सेवा है? मन की सेवा भी सेवा है, बल्कि अधिक।"

आज वैशाख संक्रान्ति है। एक भक्त-सेवक के भाई की दीक्षा हुई है। सन्ध्या समय बाबा ने दोनों भाइयों को अपने दोनों बगल में बुलाया और अपने दोनों हाथों में वात की दवा मालिश करने के लिए कहा। वे दोनों परम आनन्दपूर्वक यह सेवा करते लगे। बाबा कुर्सी पर टिककर चुप बैठे हुए हैं।

कुछ क्षण बाद कहने लगे, "अब तक तुम दोनों केवल blood brother (खून के सम्बन्ध से भाई) थे, आज से हो गये spiritual brother (आध्यात्मिक भाई)। इसमें सम्बन्ध-विच्छेद नहीं है। मुझे भी बड़ी प्रसन्नता हो रही है, खूब।

सन्ध्या का समय है। स्वामी अखण्डानन्द महाराज कैम्पखाट पर बैठे हुए हैं। मालदा के एक भक्त बड़े भावपूर्वक गा रहे हैं--

सहज मनुज होता है जो जन,
मन का अहो मनुज है जो जन,
नयन चीन्ह लेते दिखते ही,
करे ज्वार-पथ आवाजाही।

टापू उसकी कामनदी में,
जल न समाये प्रेमनदी में।

गाने के अन्त में बाबा कह रहे हैं, "बड़ा अच्छा गाना है। जो गाना न गा सकता, उसे ठीक पूरा पूरा मनुष्य कहने में स्वामीजी (विवेकानन्द) संकोच करते थे। मनुष्य का एक लक्षण गाना है--गाना हृदय से निकलता है न।"

सन्ध्या के बाद धूमिल अन्धकार में बाबा हॉल में बैठे हुए हैं। भीतर कमरे में मोमबत्ती जल रही है। कुर्सी के पास जमीन पर दो-एक भक्त उपविष्ट हैं। बाबा कह रहे हैं, "माला और कितनी फेरोगे? व्याकुल हो पुकारो। पुकारते पुकारते सब स्थिर हो जायगा, हाथ की माला हाथ ही में रह जायगी, उसका फिरना बन्द हो जायगा, वस्त्र का ही ध्यान न रहेगा—खिसक जायगा। नाम लेते ही इष्ट रूप के दर्शन होंगे--तब कितनी हँसी, कितना रोना, कितनी बातचीत होगी--'इतने दिन तुमने दर्शन क्यों नहीं दिये?'--यह सब होगा। व्याकुल होओ। इतना जप करना होगा, इतना तप करना होगा--यह सब कुछ नहीं। व्याकुल हो, कातर हो रो-रोकर पुकारना, कहना--'दर्शन दो, दर्शन दो; कितने लोगों को तो तुमने दर्शन दिये हैं, फिर मुझे क्यों नहीं दोगे? तुम्हीं ने तो कहा है—जो तुम्हारे लिए रोएगा, उसे तुम दर्शन दोगे। फिर मुझे दर्शन क्यों नहीं दे रहे हो?' 'दर्शन दो, दर्शन दो' कहकर आकुल हो रोना। ठाकुर हम लोगों से पूछते

थे, 'क्यों रे, रो-रोकर पुकारा था तो ?' यदि कहते, 'हाँ', तो बड़े प्रसन्न होते थे। फिर पूछते, 'अच्छा, आँख के किस कोने से आँसू झरे थे ?' वे बतलाते कि नाक के पास के कोनों से अनुताप के आँसू झरते हैं और कान की ओरवाले कोनों से प्रेम के।

"ठाकुर के पास जो लोग आये थे, उन सभी में यह सब कुछ न कुछ दिखता था--अष्टसात्त्विक विकार--स्वेद, कम्प, पुलक, अश्रु, हास्य, क्रन्दन, नृत्य, गीत। वे लोग भावावेश में कभी हँसते तो कभी रोते, कभी नाचते तो कभी गाते। स्वामीजी को भी होता था, पर उनका बड़ा दबा दबा भाव था। और ठाकुर का तो लगा ही रहता था। लग जाओ। रो-रोकर उनसे कहो--मेरा कुछ हो क्यों नहीं रहा है ? तुम्हें मैं देख क्यों नहीं पा रहा हूँ ? तुम्हें देखने के लिए मुझमें आकुल इच्छा क्यों नहीं हो रही है ?"

० ० ०

अन्य एक दिन सन्ध्या समय बाबा को कमरे में खाट पर लेटे देखकर 'स्मृतिकथा' लिखनेवाला सेवक आकर वापस चला गया। जब कुछ बाद वह फिर से आया, तो बाबा बोले, "पुकारा क्यों नहीं ? सोच रहे थे कि सो गया हूँ। मैं सो गया था ? ये लोग (आश्रम के बालक-गण) शिव का नाम ले रहे थे--शिव, शिव ! अनन्त, अनन्त का अंश भी अनन्त ! यह आकाश, नक्षत्र, विश्व-संसार--समाधि में सत्र शून्य हो जाता है। कुत्र लीनमिदं विश्वम्, क्व गतं केन वा नीतम् ? गुरु का उपदेश श्रवण

कर शिष्य गम्भीर ध्यान में डूब जाता है, फिर उपलब्धि। उसके बाद शिष्य कहता है--'यह विश्व-संसार कहाँ गया ? अभी तो था--कौन ले गया' ?"

रात के लगभग ८ बजे हैं। सेवक, भक्त और ब्रह्मचारी लोग बाबा को प्रणाम करने आये हैं। बाबा उठकर बैठे और उद्दीप्त स्वर में कहने लगे, "Hand, head and heart (हाथ, सिर और हृदय) तीनों का ही culture करना होगा। हाथ का काम है शारीरिक कर्म, सिर का काम है विद्या-बुद्धि का अनुशीलन और हृदय का काम है सेवा-प्यार। स्वामीजी ने मुझे लिखा था, 'It is the heart that conquers, not the brain (हृदय ही विजयी होता है, मस्तिष्क नहीं)। प्रत्येक प्राणी हृदय की भाषा समझ लेता है। स्वामीजी के भीतर तीनों का ही विकास हुआ था। हमें पहले से ही प्रयत्न करना चाहिए। स्वामीजी के समान spiritual (आध्यात्मिक) हम भले न हों, उनके-जैसा heart (हृदय) या intellect (बुद्धि) हमारे भले न हो, पर हाथ के काम का अनुसरण तो हम लोग कर ही सकते हैं। मठ में उन्होंने बड़े बड़े हण्डे माँजे थे--एक एक इंच परत मैल जमा था उनमें। तो हम लोग क्या एक कटोरी भी नहीं माँज सकते ? उन्होंने मठ का शौचालय साफ किया था—जानते हो ? एक दिन जाकर देखा--बड़ी दुर्गन्ध आ रही है। वे सब कुछ समझ गये। उन्होंने गमछा मुँह पर बाँधा और चले दोनों हाथों में दो बाल्टी लेकर ! जब दूसरों ने देखा तो

दौड़ आये, कहने लगे, 'स्वामीजी, आप !' स्वामीजी हँस पड़े, बोले, 'इतनी देर बाद स्वामीजी, आप' !"

० ० ०

सुबह पत्र लिखनेवाले सेवक ने एक पत्र के उत्तर में सामान्य रूप से लिखा है--'मैं बूढ़ा हुआ हूँ, समय पर चिट्ठी आदि दे नहीं पाता,' इत्यादि। सुनते ही बाबा पीठ को तानकर सीधा बैठ गये और प्रतिवाद करते हुए कहने लगे, "मैं बूढ़ा हुआ हूँ--हो नहीं सकता; काट दो, काट दो। मैं still young—young in spirit (अभी भी युवा हूँ, मन से युवा हूँ)।" मुट्ठी बाँधकर पुनः कहने लगे, "I am younger than all of you combined (तुम सबकी अपेक्षा मैं युवा हूँ)। मेरा शरीर ही बस पहले के समान हिलता-डुलता नहीं, पर मेरे प्राण तो उछलते-कूदते रहते हैं--हरदम कुछ करना चाहते हैं। यही देखो न, थककर लेटा हुआ था। फिर भी काम करने की इच्छा होती है। कौन सा काम करूँ? सोचा, चिट्ठी लिखा लूँ! और तुम हो कि लिख दिया है--मैं बूढ़ा हो गया हूँ !"

मनीआर्डर आया था। सेवक ने कूपन बाबा को दिया है। देखते ही देखते बाबा बोल उठे, "इसमें पता कहाँ है ? मालूम नहीं ? यह कोई excuse (बहाना) नहीं। मालूम क्यों नहीं ? जानने की इच्छा नहीं या कोशिश नहीं की ? फार्म को देखकर लिख ले सकते थे या पूछकर जान ले सकते थे। ऐसी साधारण बातों में तो यह अवस्था ! फिर ब्रह्मज्ञान ?--वह क्या सहज है ?

जानने की कितनी तीव्र इच्छा चाहिए, कितने दिनों की कितनी साधना-तपस्या चाहिए, तब तो। समझे--पहले इच्छा, उसके बाद प्रयत्न चाहिए।"

एक दिन अपराह्न में बाबा के पास दूसरा कोई सेवक नहीं था। बाबा हाथ में पानी ढालने के लिए बुला रहे थे। अन्त में भक्त ही जाकर एक लोटा जल ले आया। पानी ढालना होने पर बाबा कहने लगे, "(लोटे को पकड़कर दिखाते हुए) इस प्रकार लोटे को पकड़ जल ढालना चाहिए, बाहर से उसे पकड़ना, भीतर उँगली न डुबाना। छोटा-मोटा काम भी निर्दोष रूप से करना चाहिए। ऐसा न सोचना कि बाहर का काम है, जैसा-तैसा करके पूरा कर लूँ। सब काम यत्नपूर्वक करना चाहिए। जब जो करोगे, तब उसमें पूरा मन लगा देना और ऐसा सोचना कि वही साधना है--भगवान् को पाने का उपाय है। ढाका का डा० गांगुली बगीचे में कोड़ा देता है, पौधों में जल देता है और सोचता है--यह ठाकुर का बगीचा है, पानी दे रहा हूँ, पौधा होगा, फूल होंगे, उन फूलों से ठाकुर की पूजा होगी। सदैव यही विचार करता रहता है। यही तो जप-ध्यान है, यही तो साधन-भजन है।"

एक दिन बाबा अपने आप में गा रहे हैं--

हँसमुख तेरा करल कि गुण।
अन्दर जल रहा इश्क आगुन॥

भक्त और सेवकगण जब पास आये, तो बाबा कह रहे

हैं, "इश्क माने love (प्रेम)। यह गीत अवश्य एक प्रेमी ने अपनी प्रेमिका को उद्देश्य करके गाया था, पश्चिम के एक शहर में। मेरे कान में जब यह पड़ा, तब मेरे मन में दूसरा भाव ही उठा। सोचा--सच तो है, हँसमुख और कौन है ?एक उन्हीं (ठाकुर) को हँसमुख देखा है।"

सन्ध्या बरामदे में जरा बैठक जमी है। किसी ने पूछा है--तिब्बत क्यों गये थे, वहाँ का वृत्तान्त सुनाइए, आदि। बाबा कह रहे हैं, "तिब्बत क्यों गया ? उनके (ठाकुर के) चले जाने के बाद कहीं कुछ अच्छा नहीं लगता था। हरदम सोचता था--कहाँ जाने पर उन्हें फिर से पाऊँगा ? लगता--हिमालय जाने से अवश्य उन्हें पाऊँगा, हिमालय तो देवस्थान है। बचपन से कैलास, मानसरोवर, केदार-बद्री की बात सुन सुन सोचता था कि बड़े होने पर वहीं चला जाऊँगा। यह भी सुना था कि तिब्बत में अभी भी बड़े बड़े बौद्ध मठ हैं। देखने की बड़ी इच्छा होती। हिमालय तो ऐसा है कि पहाड़ पर पहाड़, चिर हिमाच्छादित। वर्ष में किसी समय वहाँ बर्फ की नहीं गलती--सब शुभ्र, उज्ज्वल, निर्मल, स्तब्ध। कितने दिन तो बर्फ के ऊपर ही कट गये ! बड़ा अच्छा लगता, चारों ओर देखता और लगता मानो कितने दिनों का परिचित परित्यक्त स्थान है !

"तिब्बत में मुझे प्रायः नग्नावस्था में बर्फ से उठाकर एक बौद्ध मठवाले ले गये। बर्फ में मैं जमा जा रहा था। तुम लोग मेरे शिष्य हो, अतः तुमको बताने में कोई

बाधा नहीं। वे लोग मेरे शरीर के लक्षणों को देख बोल उठे--'गे-लाम्', अर्थात् आजन्म ब्रह्मचारी। उनके यहाँ गे-लामों का अत्यन्त सम्मान है। मुझसे कहा, 'यहीं रह जाओ।' ठाकुर का चित्र मेरे पास से लेकर उन्होंने वेदी में बुद्ध के पास रख दिया और आरती करने लगे। मुझसे पूछने लगे, 'यह कौन है ? यह आँख तो मनुष्य की नहीं है। यह भगवान् है, यह बुद्ध है।' अन्त में चित्र लौटा दिया। एक एक मठ में ४,०००, ७,००० साधु हैं। चाय का पानी चढ़ा ही रहता है। यह पत्ती-चाय नहीं है--टैबलेट-चाय है। गरम पानी ले जब इच्छा हो, जितनी इच्छा हो पी लो। चाय न पीने से आदमी जम जायगा। बीच में आग जल रही है--चाय का पानी खौल रहा है और चारों ओर दीवार में गुँथे हुए कुर्सीनुमा ध्यान के आसन हैं। चाय पी ली, थोड़ा मांस-वांस खा लिया और फिर ध्यान में बैठ गये।

"तिब्बती भाषा मैंने सीख ली थी। वहाँ लड़कियाँ कहतीं, 'तुम्हारे क्या माँ-बहिन कोई नहीं है ? कोई हर्ज नहीं, यहीं शादी कर लो न।' मैं कहता, 'तुम सभी तो मेरी माँ हो। भला किससे शादी करूँ बताओ ? मैं तो संन्यासी हूँ।' वहाँ तासी लामा political head (राष्ट्र प्रधान) हैं और दलाई लामा spiritual head (धर्मगुरु)। वह जाति ही spiritual (आध्यात्मिक) है। कोई लामा जब मरता है, तो वे लोग खोज-खबर रखते हैं कि वह कहाँ पैदा हुआ, और उसे ढूँढ़कर ले आते हैं तथा लामा

पद पर बिठा देते हैं——फिर वह कितना भी छोटा क्यों न हो। एक उनमें 'अछि' रहता है——वही यह सब करता है, उसी को सब लोग बतलाते हैं। एक बार ब्रिटिश रीजेण्ट के साथ बात हो रही थी, अछि सब समझा दे रहा था। अठारह महीने की उम्र का लामा गर्दन हिलाकर approval (सम्मति) या disapproval (असम्मति) प्रकट कर रहा था। वे लोग जातिस्मर होते हैं——पूर्वजन्म की सारी बातें उन्हें स्मरण रहती हैं।

"मैं तिब्बती पोशाक पहनकर घूमा हूँ। काश्मीर में मुझे अटका दिया, नजरबन्द करके रखा, सरकार की धारणा थी कि मेरा कोई political (राजनैतिक) उद्देश्य है। तिब्बती भाषा सुन उन्हें और सन्देह हो गया, कहने लगे——वे लोग तुमको इतना क्यों मानते हैं? मैंने कहा——यह बात तुम लोग उनसे पूछो न। मैं बंगाली संन्यासी हूँ, वराहनगर में हमारा मठ है, मुझे छोड़ दो, नहीं तो मैं अनशन शुरू कर दूँगा। जेल में कुछ नहीं खाता था। हवलदार ने बड़ी कोशिश की, जिससे मैं अनशन तोड़ दूँ। हवलदार की स्त्री ने कितना कहा——'महाराज, जरा खा लो, नहीं तो हमारा अमंगल होगा। जरा से बच्चे तो हो! मुझे माँ समझकर ही मेरी बात मान लो।' और ऐसी कह वह रोती थी। मैं बोला, 'जन्म देनेवाली माँ को रुलाकर आया हूँ। तुम्हारी आँखों का आँसू मुझे डिगा नहीं सकेगा, माँ! मैं वैसा साधु नहीं हूँ।'

"अन्त में जब उन लोगों का छोटा लड़का शाम को

लुक-छिपकर अपने पास के अधेले से चाय और सेव खरीदकर ले आया और खिड़की के पास खड़े हो कहने लगा—'साधुजी, दादाजी, लो खा लो', तब और नहीं रह सका। आँखों में आँसू आ गये। उसकी दी हुई चीजें मैंने खायीं। खोज-खबर ले जब उन लोगों ने जाना कि मेरा किसी भी प्रकार का राजनैतिक सम्बन्ध नहीं है, तब उन लोगों ने छोड़ दिया, पर पुलिस ने साथ न छोड़ा। बाली (कलकत्ते का एक स्टेशन) में उतरते ही उसने पकड़ लिया और वराहनगर मठ पहुँचा दिया।"

० ० ०

सन् १९३६ ई०, ज्येष्ठ पंचमी, रविवार का दिन है। सारगाछी में ठाकुर-जन्मोत्सव के दिन दोपहर में कोई भक्त एक अखबार ले आया है। उसमें एक वैष्णव प्रचारक की वक्तृता छपी है, जिसमें कहा है कि रामकृष्ण हिस्टीरिया के रोगी थे, सम्मोहन-विद्या जानते थे और विवेकानन्द उनके गुण्डा थे। उस भक्त ने बाबा का ध्यान दो-तीन बार इस समाचार की ओर खींचते हुए उनसे इसका प्रतिवाद करने का अनुरोध किया। अन्त में बाबा बोले, "अरे पगले, वह सब भी क्या कोई देखता या पढ़ता है ? 'नीच यदि ऊँचा कहे। सुबुद्धि उसे हँसकर उड़ाये।' यदि कोई आकर कहे 'कृष्ण लम्पट था', तो उसकी बात सुन लोगे या प्रतिवाद करोगे ? जिसने समझा है, उसने समझा है। दूसरे को भी समझने दो। यह लेकर और कुछ करो मत, अखबार फाड़ फेंको। तुम्हीं तो

उनकी भावधारा फैला रहे हो।" भक्त ने अखबार फेंक दिया। कुछ क्षण बाद बाबा कह रहे हैं, "अलवर में रात काटने के उद्देश्य से एक के घर पहुँचा। भोजन के बाद बात बात में वह स्वामीजी पर कटाक्ष करने लगा। एक बार प्रतिवाद किया, फिर उसी क्षण उस घर से निकल गया। तब रात के १० या ११ बजे होंगे।

० ० ०

बाबा एक ब्रह्मचारी से पूर्वबंग के उच्चारण में कह रहे हैं, "गहना कर्मणो गतिः'--समझे, कर्मयोग बड़ा कठिन रास्ता है। जप-ध्यान तो उसकी तुलना में बड़ा सरल है। जप-ध्यान क्या करते हो, सब समझता हूँ--वह केवल कामचोरी है। तुम्हारा कितना जप-ध्यान होता है, वह मुझसे छिपा नहीं है। काम करो, काम। Positive something--जिसका फल हाथोंहाथ मिले। तुम्हारा भी भला, दूसरे का भी भला--वही चतुराई चतुराई है। work, work (काम करो, काम करो), पर हाँ, as worship (उपासना समझकर)--इतना ही योग है। जिसका जप-ध्यान अच्छा होगा, उसकी कर्मठता और कर्मकुशलता बढ़ जायगी। वह कभी tired (श्रान्त) नहीं होता, क्योंकि उसकी शक्ति वृथा खर्च नहीं होती। वह कभी खिन्न नहीं होता, क्योंकि उसकी किसी में आसक्ति नहीं होती। वह सदैव शान्त और अथक रूप से काम करता रहता है। यही तो test (कसौटी) है। इससे यह अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि मन ठीक चल रहा है या नहीं।"

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :- प्रस्तावना

स्वामी प्रभानन्द

(आत्मा पर आत्मा की, ईश्वर के लिए भूखी आत्मा पर ईश्वर से भरी आत्मा की जो परस्पर क्रिया होती है, उसके अपने नियम है और इन नियमों का अध्ययन बड़ा रुचिकर और प्रेरणाप्रद होता है। दक्षिणेश्वर के ईश्वरोन्मत्त सन्त श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर के लिए भूखी बहुत सी आत्माओं को मुग्ध कर अपने स्नेहपाश में बाँध लिया, और उनके ये 'शिकार' अपने इस आध्यात्मिक 'बन्धन' पर आजीवन उल्लसित होते रहे। श्रीरामकृष्ण कहा करते कि जब वे कुछ लोगोंसे पहली बार मिलते, तो उनके भीतर कुछ 'अचानक कूद पड़ता'। उनके इस प्रकार चौंक उठने के कई कारण थे, जिनमें से कुछ को ही उन्होंने शिष्यों के समक्ष प्रकट किया था । इसी प्रकार, कई लोगों ने, जो पहली बार श्रीरामकृष्ण से मिले, अपने भीतर आत्मा को आलोड़ित करनेवाली प्रतिक्रियाएँ अनुभव कीं। कुछ लोगों के सम्बन्ध में वह चेतन स्तर पर संवेद्य नहीं था, पर हर दशा में यह निश्चय था कि पहली भेंट से बाद की भेंटों का सिलसिला बना और उसके परिणाम बड़े दूरगामी हुए ।

इस प्रकार की 'श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातों' का अध्ययन, जो प्रामाणिक सन्दर्भों पर आधारित है, पाठकों के समक्ष धारावाहिक रूप से रखा जा रहा है। आशा करते हैं कि यह नयी लेखमाला रुचिकर और लाभप्रद सिद्ध होगी। इसके लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण सघ के संन्यासी हैं और उन्होंने इसे अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार किया था, जिसके मार्च १९७३ अंक से यह साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। --सं०)

२७ अक्तूबर, १८८५ ई० की घटना है ।[1] अपराह्न बीत चला था । श्रीरामकृष्ण ५५ श्यामपुकुर स्ट्रीट के अपने कमरे में बैठे हुए थे, जहाँ उन्हें दक्षिणेश्वर से उनके गले के कैंसर की व्यवस्थित चिकित्सा के लिए ले आया गया था । बहुत से भक्त उपस्थित थे, जिनमें नरेन्द्रनाथ दत्त, गिरीशचन्द्र घोष, डा० महेन्द्रलाल सरकार, डा० दुकौड़ी, राखालचन्द्र घोष, छोटा नरेन, महेन्द्रनाथ गुप्त, शरत् चक्रवर्ती और श्याम बसु प्रमुख थे । वे सभी एकाग्र चित्त से श्रीरामकृष्ण के ओठों से निकलनेवाले प्रत्येक शब्द को सुन रहे थे । उनकी वाणी तनिक तुतलाहटयुक्त थी, पर उनकी वह तुतलाहट भी बड़ी आकर्षक थी । उनकी चुटकुलों और विनोद से भरी इस ज्ञानगर्भ वाणी का प्रवाह उनके श्रोताओं को उल्लसित और पवित्र कर रहा था । बीच बीच में वे गहरी समाधि में डूबकर बाह्यज्ञानशून्य हो जाते । उनकी देह निःस्पन्द हो जाती, दृष्टि बँध जाती और वाणी मौन हो जाती। वे तराशी गयी प्रस्तरमूर्ति की तरह अचल हो जाते। तब वे एकदम दूसरे ही व्यक्ति बन जाते। दर्शकगण उनके चेहरे की ओर आश्चर्यचकित हो देखने लगते। तब वहाँ उनके अत्यन्त पीड़ादायक रोग का लेश भी परिलक्षित न होता ।

श्रीरामकृष्ण विनोद से भरे थे। वे चाहते कि दर्शक अपने मन की बात खोलकर रख दें । इस अवसर पर

---

[1]. 'म' : 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भाग ३ (श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर १९६४), पृष्ठ ३९८ ।

उनकी बातचीत श्रीरामकृष्ण को ही केन्द्र बनाकर होने लगी ।

डा० सरकार (गिरीश से)--"और चाहे सब काम करो, पर ईश्वर समझकर इनकी पूजा न किया करो । ऐसे भले आदमी क्यों बिगाड़ रहे हो ?"

गिरीश--क्या करूँ, महाशय? जिन्होंने इस संसार-समुद्र और सन्देह-सागर से मुझे पार किया, उन्हें और क्या मानूँ बतलाइए ।. . .

नरेन्द्र (डा० सरकार से)--"इन्हें (श्रीरामकृष्ण को) हम लोग ईश्वर को तरह मानते है । . . . "

डा० सरकार--"अपने इस तरह के भावों को दवा रखना चाहिए ।"

नरेन्द्र (डा० सरकारसे)--"इन्हें जो हम लोग पूजते हैं वह पूजा मानो ईश्वर की ही पूजा है ।"

इन वातों को सुनकर श्रीरामकृष्ण वालक की तरह हँस रहे हैं ।[२]

कुछ घण्टे पहले श्रीरामकृष्ण के सामने जब छोटे नरेन ने एक यत्र की सहायता से विद्युत्-प्रवाह का प्रदर्शन किया था, तो उन्होने एक बालक की तरह उत्सुकता दिखायी थी । उसके कुछ ही क्षण वाद उन्होंने बैरिस्टर अतुलचन्द्र घोष और उनके एक मुन्सिफ मित्र का, तथा सुप्रसिद्ध चित्रकार अन्नदा बागची का मनोरंजन किया था ।

आज का यह दिन भी श्रीरामकृष्ण के परवर्ती जीवन

---

[२] ,वही, पृ० ४१३–१७ ।

के कई दिनों के ही समान था। परिचितों और अपरिचितों की भीड़ उनके उस घर में सुबह से देर रात तक आती रहती और वे भी अपने को सबके लिए सुलभ रखते। सभी स्तर के लोग उनके पास आते—न वहाँ जाति का भेद था, न धर्म का, न धन के प्राचुर्य या अभाव का। वे अलग अलग आशाएँ लेकर आते। कुछ अपने दिमागों को खुला रख कौतूहलवश आते, कुछ उनके पूत सान्निध्य में पुण्य कमाने की इच्छा लेकर आते, कुछ दूसरे उनके उपदेशों से शिक्षा ग्रहण करने आते और कुछ मन की शान्ति पाने का उपाय प्राप्त करने आते। जो उनके पास लौकिक लाभ की आशा लेकर अथवा कुछ चमत्कार देखने की अभिलाषा से आते, वे यह देख निराश होते कि वे एक गलत जगह आ गये हैं, क्योंकि श्रीरामकृष्ण चमत्कार दिखाना तो दूर रहे, उसकी निन्दा करते थे।

कुछ लोग उन्हें सामान्य मानव के रूप में देखते, जो तौर-तरीकों से अनभिज्ञ हैं। दूसरे उन्हें सनकी मानते। कुछ ऐसे भी थे, जो उन्हें एक अत्यन्त असाधारण मनुष्य के रूप में देखते। केशवचन्द्र सेन जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों की दृष्टि में वे थे 'एक ऐसा मनुष्य, जो उदारतम और सर्वग्राही आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न था, ऐसा मनुष्य जो ईश्वर के साथ रहता और चलता था, ऐसा सन्त जिसके विचार और बोल अत्यन्त मौलिक और हृदयग्राही थे।' [३] उनके प्रशंसकों में कुछ उन्हें

३. नगेन्द्रनाथ गुप्त: 'Ramakrishna - Vivekananda', पृष्ठ ६।

'प्रकृति का शिशु' मानते,[४] या 'ईश्वर-तुल्य मनुष्य',[५] या 'चैतन्य, बुद्ध और ईसा के समकक्ष मनुष्य',[६] या 'नररूप में नारायण, अवतार'[७]। वे यह नहीं समझा सकते थे कि श्रीरामकृष्ण किस प्रकार 'स्पर्श या इच्छा मात्र से दूसरों के भीतर धार्मिकता एवं पवित्रता का संचार करते हैं, जिससे नितान्त अधम और चरित्रहीन मनुष्य क्षण भर में साधु बन जाता है।[८]

अवश्य ही उनमें से अधिकांश को इसमें संशय नहीं था कि श्रीरामकृष्ण उच्चतम सत्यनिष्ठा सम्पन्न व्यक्ति थे, जिन्होंने सत्य के साक्षात्कार के लिए सर्वस्व त्याग दिया था। यद्यपि वे उन्हें समुचित रूप से नहीं समझ पाते थे, तथापि वे देखते थे कि इस व्यक्ति की वाणी और उसके जीवन में मेल है और इस तथ्य ने ही उनकी

---

४. डा० महेन्द्रनाथ सरकार ने श्रीरामकृष्ण का वर्णन ऐसा ही किया, द्रष्टव्य, 'वचनामृत', भाग ३, पृ. ४२३।

५. नरेन्द्रनाथ का यही मत था ('वचनामृत', भाग ३, पृ. ४१४)। पर यह उनका अन्तिम मत नहीं था। बाद में, स्वामी विवेकानन्द के रूप में, उन्होंने श्रीरामकृष्ण को 'अवतार-वरिष्ठ' आदि कहकर पुकारा।

६. यह 'वचनामृत' के लेखक 'म' का मत था।

७. भैरवी ब्राह्मणी, पद्मलोचन, गिरीशचन्द्र घोष, रामचन्द्र दत्त और अन्य दूसरे श्रीरामकृष्ण के जीवनकाल में ही उन्हें ऐसा मानते थे।

८. 'विवेकानन्द-साहित्य' (अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, १९६३) खण्ड ९, पृ. २९

दृष्टि में इस अपढ़, अज्ञात ग्रामीण को धर्म के क्षेत्र में प्रामाणिक बना दिया। जब उन्होंने देखा कि वे जो कुछ उपदेश देते हैं, उसे अपने जीवन में उतारते हैं, तो वे उनकी वाणी को सुनने के लिए तैयार हो गये। धर्म पर उनका कोई भी मत प्रामाणिक माना जाने लगा।

श्रीरामकृष्ण उल्लासमय और विनोदी थे तथा उनमें एक शिशु की सरलता, बुद्धिवादी की प्रखरता, मसीहा की मनीषा और सन्त का नैसर्गिक प्रेम था। उन्होंने स्वयं कुछ लोगों के मन में यह धारणा पैदा की थी कि वे अवतार हैं। उन्होंने थके हुए पथिकों को ईश्वर के दर्शन कराये। मनुष्य को उसकी समस्याओं के समाधान में सहायता देने के लिए उन्होंने सुझाव दिया, 'मुझे पकड़े रहो।'[१] यद्यपि उन्होंनें आध्यात्मिक अनुभूतियों के उच्चतम शिखरों का आरोहण किया था, तथापि वे अपने आसपास के लोगों की नगण्य चेष्टा के प्रति भी सहानुभूति व्यक्त करने के लिए नीचे उतरने में नहीं हिचके। दूसरों के प्रति उनके प्रेम की कोई सीमा नहीं थी। उनके लिए उनकी चिन्ता आश्चर्यजनक थी। जो लोग उन्हें अन्तरंग रूप से जानते थे, वे ऐसा अनुभव करते थे कि प्रेम ही उनका स्वभाव है। उन्होंने बरसों अपने प्रेम को ईश्वर की ओर मोड़ा था और जब वे उनके साथ पूरी तरह से एक हो गये, तो ईश्वर ने उस प्रेम को सारी

---

१. स्वामी नित्यात्मानन्द : 'श्री-म दर्शन' (बँगला), भाग १, पृ. ३९।

सृष्टि की ओर मोड़ दिया, उन नर-नारियों की ओर मोड़ दिया, जो उन्हें खोजते थे और उनकी ओर भी, जो उन्हें नहीं खोजते थे। 'जीवोद्धार' के इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने उसी तीव्रता और समर्पण के साथ अपने को लगा दिया, जिसके साथ पहले वे सत्य के साक्षात्कार में लगे थे।

वे एक दक्ष आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक थे और निष्ठावान साधकों को 'रुधिरश्वान' की दृढ़ता से पकड़ लेते थे। वे लोगों पर प्रेम का वर्षण करने के लिए कलकत्ते की गलियों में घूमा करते। उन्हें यही शिकायत थी कि उनका कमजोर शरीर उनको गलियों में उतना नहीं चलने देता, जितना कि वे चाहते थे। वे आँखों में आँसू भरकर जगन्माता से उन सबको शीघ्र उनके पास ला देने की प्रार्थना करते, जिनका भार उन्हें लेना था। वे उन लोगों के लिए रोते, और कभी कभी तो बड़ी विकलता से, और उन्हें ऐसा लगता कि कोई उनके हृदय को गीले गमछे की तरह निचोड़े दे रहा है। चाहे वे इधर-उधर आ-जा रहे हों या अपने कमरे में बैठे हों, उनके मन के पीछे सर्वदा ऐसे कुछ खोये हुए मुखड़े थे, जिन्हें जगन्माता ने उन्हें दिखाकर बतलाया था कि वे उनके पास धर्मोपदेश के लिए आएँगे, पर जो अभी तक नहीं आये थे। वे आध्यात्मिक दृष्टि से दिन में कई घण्टे इन लोगों की सेवा में लगाते। श्री माँ सारदा देवी ने सच ही तो कहा था, "वे (श्रीरामकृष्ण) केवल रसगुल्ला खाने तो नहीं आये थे!"

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण के चारों ओर ऐसे नर-नारियों का जमाव हुआ, जो ईश्वरीय प्रेम में उन्मत्त हो श्रीरामकृष्ण को बीच में रख मानो एक समूह-नृत्य में रत हुए, जैसे प्रेम के समुद्र में जल की बूँदें तरंगों पर नर्तन करती हों। उनमें से प्रत्येक के लिए वे 'माधुर्य के विग्रह'[१०] थे। वे आनन्द और मुक्ति का पवन अपने चारों ओर के सब लोगों पर बहने देते। सर्वोपरि, वे उनके सुहृद् थे--'एक ऐसा मित्र, जो बिना किसी स्वार्थ के सबका भला करता है'।[११] वे उनके सच्चे और भरोसे के मित्र थे, उनके सब समय के साथी और विश्वसनीय मार्गदर्शक थे। उन लोगों ने भी उनमें समस्त विरोधी शक्तियों का मिलनबिन्दु देखा। सर्वोपरि, यद्यपि श्रीरामकृष्ण एक असामान्य और रहस्यमय घटना थे, तथापि उन लोगों के लिए वे अनुभव के एक जीते-जागते और प्रेमार्ह तथ्य थे।

जो लोग श्रीरामकृष्ण के घनिष्ठ सम्पर्क में आये और जिन्हें सुहृद् के रूप में उनकी सेवाएँ प्राप्त करने का महत् सौभाग्य मिला था, उन्हें सुविधा की दृष्टि से निम्नोक्त श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है--

(अ) *उनके स्वयं के गुरु:*--भैरवी ब्राह्मणी, जटाधारी, तोतापुरी आदि।

(आ) *भावी संन्यासी:*--राखाल, नरेन्द्र, जोगीन्द्र, बाबूराम, निरंजन, लाटू, तारक, शशि, शरत्, गंगाधर,

---

१०. स्वामी प्रेमानन्द का स्वामी विरजानन्द को लिखा पत्र।

११. सुहृदं सर्वभूतानाम्--गीता, ५/२९।

हरिनाथ, सुबोध, सारदा आदि ।

(इ) *गृहस्थ भक्त*:--रामचन्द्र दत्त, मनोमोहन मित्र, बलराम बोस, महेन्द्रनाथ गुप्त, केदार चटर्जी, दुर्गाचरण नाग, विश्वनाथ उपाध्याय, देवेन्द्रनाथ मजूमदार, पूर्णचन्द्र घोष आदि ।

(ई) *महिला-भक्त*:--अघोरमणि (गोपाल की माँ), जोगीन्द्रमोहिनी, गोलापसुन्दरी, लक्ष्मीदेवी, गौरदासी आदि।

(उ) *प्रतिष्ठित व्यक्ति*:--देवेन्द्रनाथ ठाकुर, दयानन्द सरस्वती, केशव चन्द्र सेन, भगवानदास बावाजी, विद्यासागर, बंकिमचन्द्र, माइकेल मधुसूदन, शिवनाथ शास्त्री, शशधर तर्कचूड़ामणि, महेन्द्रलाल सरकार आदि।

(ऊ) *'पापी'*:--गिरीशचन्द्र घोष, सुरेन्द्रनाथ मित्र, कालीपद घोष, विनोदिनी आदि ।

(ए) *'आकस्मिक आगन्तुक'*:--अक्षय कुमार सेन, नीलकण्ठ मुखर्जी, प्रो० नित्यानन्द गोस्वामी, प्रभुदयाल मिश्र, वैकुण्ठनाथ सान्याल आदि ।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि श्रीरामकृष्ण के समान ईश्वरीय पुरुष के समस्त कार्यकलाप किसी विशिष्ट उद्देश्य से होते हैं । अतः उनका उपर्युक्त व्यक्तियों में से प्रत्येक के साथ प्रथम मिलन ऐसे रोचक और बोधक परिवेश में हुआ, जिसने उनके साथ उस व्यक्ति के विशिष्ट सम्बन्ध की नींव डाल दी, जिसकी वृद्धि और विकास आगे चलकर साधित हुआ । अपने अन्तरंग भक्तों में से प्रत्येक के

आगमन को उन्होंने पहले से अपने मानसनेत्रों द्वारा देख लिया था, और जब उससे उनकी पहली भेंट हुई, उसी समय उन्होंने अपनी अलौकिक अन्तर्दृष्टि द्वारा उसके स्वभाव-गुण आदि का परिचय पा लिया और तदनुरूप वे तभी से उसके साथ अपने सम्बन्ध को पुष्ट करने की दिशा में अग्रसर हो गये। इस सन्दर्भ में वे एक 'कुशल रँगरेज' के समान थे, जो अपने ग्राहकों की इच्छानुसार कपड़ों को विभिन्न रंगों में रँग देता है। चूँकि उनके रंगों का आधारभूत रंग प्रेम था, इसलिए उनकी मुलाकातें--विशेषकर पहली मुलाकातें--प्रेम की भाव-भीनी घटनाएँ उपस्थित करती हैं। लोगों के साथ प्रथम मिलन कुछ हद तक उद्दीप्त संवेदनशीलता और बढ़ी हुई संग्राहकता के क्षण होते हैं, अतः बाद की भेंटों की अपेक्षा इस प्रथम भेंट में उन लोगों में अधिक अभिव्यक्ति की सम्भावना होती है। यही कारण है कि श्रीरामकृष्ण ने अपने से भेंट करनवालों के मन पर जो पहली छाप डाली, उसका अपना महत्त्व है, भले ही उन लोगों की धारणा बाद में और भी विकसित हुई हो। अतएव यह 'श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' नामक लेखमाला एक जगद्गुरु और अपूर्व व्यक्तित्व के विभिन्न दृष्टिकोणों से सजीव छायांकन प्रस्तुत करेगी। आशा की जाती है कि इससे श्रीरामकृष्ण को अधिक अच्छा समझने तथा उनका उचित मूल्यांकन करने में पाठकों को सहायता मिलेगी।

❁

शान्ति का उपाय

(गीताध्याय २, श्लोक ४५)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

अर्जुन (हे अर्जुन) वेदाः (वेदसकल) त्रैगुण्यविषयाः (तीनों गुणों को अपना विषय बनाते हैं) त्वं (तू) निस्त्रैगुण्यः (उन तीनों गुणों से अतीत) भव (हो जा) निर्द्वन्द्वः (द्वन्द्वों से रहित) नित्य-सत्त्वस्थः (सदा सत्त्व में ही स्थित रहनेवाला) निर्योगक्षेमः (योग और क्षेम के प्रति उदासीन) आत्मवान् (आत्मा में प्रतिष्ठित) भव (हो जा)।

"हे अर्जुन, वेद सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों को अपना विषय बनाते हैं अर्थात् इन तीनों गुणों से उत्पन्न संसार ही वेदों का प्रकाशनीय है, तू तो इन तीनों गुणों से ऊपर उठ जा। सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से अतीत हो सर्वदा सत्त्व अर्थात् धैर्य में स्थित रहा। योग और क्षेम की चिन्ता का त्याग कर आत्मा में प्रतिष्ठित हो।"

पिछली चर्चा में हमने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के समक्ष कर्मयोग का वैशिष्टय प्रतिपादित कर रहे हैं। उस प्रसंग में उन्होंने वैदिक काम्य कर्मों की निन्दा की और निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा। काम्यकर्म कर्ता को विभिन्न प्रकार के फल-पाश में बाँध लेते हैं, जिससे कार्य-अकार्य का निश्चय करनेवाली व्यवसायात्मिका बुद्धि उसके भीतर उत्पन्न नहीं हो पाती। अतएव वे अर्जुन को इन काम्य कर्मों से ऊपर उठ जाने की प्रेरणा देते हैं। कहते हैं कि वेद त्रिगुणात्मक संसार को लेकर ही व्यस्त

हैं, तू क्यों इनके चक्कर में पड़ता है ? तू तीनों गुणों से परे चला जा ।

हम पहले कह चुके हैं कि 'वेद' कहने से सामान्य रूप से उसके कर्मकाण्ड का बोध होता है । गीता में जहाँ भी 'वेद' शब्द आया है, उसका साधारण तात्पर्य पूर्वमीमांसा से है । वेदों के ज्ञानकाण्ड--उत्तरमीमांसा--को सामान्यतः वेदान्त या उपनिषद् के नाम से पुकारते हैं । यह हम देख चुके हैं कि वेदों का कर्मकाण्ड इहलोक और परलोक में प्राप्त होनेवाले सुख-भोग को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानता है । इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सारे यज्ञ-यागादि कर्म हैं । पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा--काम, कांचन और कीर्ति--बस ये ही इस लक्ष्य की सीमाएँ हैं । यही त्रिगुणात्मक संसार है, जिसे वेद प्रकाशित करते हैं । वेद सत्त्व, रज और तम की सीमाओं के भीतर भोग-सुख-ऐश्वर्य प्रदान करते हैं । पर इसे भगवान् श्रीकृष्ण जीवन का चरम लक्ष्य नहीं मानते । उनकी दृष्टि में चरम लक्ष्य तो तीनों गुणों से परे है । इसीलिए वे अर्जुन को तीनों गुणों से ऊपर उठ जाने के लिए कहते हैं ।

मनुष्य जीवन में शान्ति चाहता है । शान्ति ही जीवन की धन्यता है । हम कर्म इसीलिए करते हैं कि हमें शान्ति मिले । पर हमारी भूल यह है कि हम शान्ति और सुख को एक मान बैठते हैं । हमें ऐसा लगता है कि सुख को पा लेने से हमें शान्ति भी मिल जायगी । पर हम जीवन में अनुभव करते हैं कि सुख पाने का प्रयास शान्ति को

हमसे कोसों दूर भगा देता है। सुख प्रमुखतः देह और इन्द्रियों पर निर्भर करता है और शान्ति, मन पर। भौतिक विषयों की अनुकूलता हुई, तो देह और इन्द्रियाँ सुख का अनुभव करती हैं तथा प्रतिकूलता होने पर दुःख का। इन दोनों ही दशाओं में मन चंचल होता है। जैसे दुःख मन के विक्षेप का कारण है, वैसे ही सुख भी। यह बुद्धि की अव्यवसायात्मिका स्थिति है। शान्ति मन की वह अवस्था है, जहाँ पर विक्षेप का नाश हो जाता है और मन निश्चंचल हो जाता है। यह बुद्धि की व्यवसा-यात्मिका स्थिति है। अर्जुन को यही व्यवसायात्मिका बुद्धि प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण प्रेरित करते हैं।

प्रश्न उठ सकता है कि वेदों का प्रकाशन तो भगवान् ने जगत् के कल्याण के लिए ही किया--'यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्', तब फिर उन्होंने ऐसे विषय क्यों रच दिये, जो व्यवसायात्मिका बुद्धि की प्राप्ति में बाधक होते हैं? इसका उत्तर यह है कि यह भगवान् की लीला है। उन्होंने त्रिगुणात्मक संसार ऐसा रचा है, जिसमें जीव अपनी भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों को लेकर फँसा हुआ है। फिर वे ही यह उपाय भी बता देते हैं कि जीव इस फाँस से कैसे छूटेगा। यही उनका कौतुक है। वे कौतुकी जो हैं! बंगला में एक गीत है, जिसमें भक्त जगन्माता को सम्बोधित कर कहता है--

परीक्षार अनल जेले ताते दाओ मा आमाय फेले।
आबार दाओ मा उपाय बोले जे भावे जार बाँचे जीवन॥

—'माँ, तुम परीक्षा की आग जलाती हो और मुझे उसमें झोंक देती हो। फिर तुम ही वह उपाय भी बता देती हो, जिससे जीवन बच जाय!' यही प्रभु की लीला है। वे अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के सहारे लीला करते रहते हैं। जो लीला में फँस गया, वह लीलामय को नहीं पा सकता। लीलामय को एक बार किसी तरह पकड़ लेने से लीला स्वतः वश में आ जाती है। जादू में भूल जाने से जादूगर तक हम नहीं पहुँच पाते। हम जादू में इतने रम जाते हैं कि जादूगर का भान ही नहीं होता। यदि हम किसी प्रकार जादूगर से मित्रता कर लें और जादू का राज जान ले, तो फिर हम कभी भी जादू के वश नहीं होंगे। इसीलिए भगवान् कृष्ण अर्जुन से इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से परे जाकर उस गुणातीत अवस्था को प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं, जो भगवान् का अपना स्वरूप है। और चूँकि वेद केवल इस त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही प्रकाशन करते हैं, इसलिए वेदों के ऊपर उठने का निर्देश देते हैं।

पर यह जो गुणातीत या निस्त्रैगुण्य की अवस्था को प्राप्त करना है, उसका अपना एक क्रम है। सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों के मेल से संसार बना है। कोई एकदम से उछलकर इन तीणों गुणों को पार नहीं कर सकता। पार करने के अपने विशिष्ट सोपान हैं। पहले रजोगुण के द्वारा तमोगुण को पार करना होता है, फिर सत्त्वगुण के द्वारा रजोगुण को दबाना पड़ता है। यहाँ

तक तो मनुष्य पुरुषार्थ कर सकता है, पर सत्त्वगुण से ऊपर उठने के लिए भगवान् की कृपा अपेक्षित है। वे जब देखते हैं कि जीव माया की त्रिगुणात्मक डोर से बँधा छटपटा रहा है और प्रयत्नपूर्वक तमोगुण और रजोगुण को क्रमशः दबाकर सत्त्वगुण में स्थित होने का प्रयास कर रहा है, तो वे अहैतुक कृपासिन्धु द्रवित हो उठते हैं और जीव पर ऐसी कृपा कर देते हैं, जिससे वह सत्त्वगुण को भी लाँघने में समर्थ होता है। वही चरम स्थिति है, और वह सत्त्वगुण में स्थित रहने से ही प्राप्त होती है।

श्रीरामकृष्ण कथा सुनाते हैं। एक बटोही अपने गाँव की ओर जा रहा था। रास्ते में एक भयानक जंगल पड़ता था। वह दिन रहते उस निबिड़ अरण्य को पार कर लेना चाहता था। पर दुर्भाग्य, वह रास्ता भटक गया। दिन ढल चला। साँझ उतरने लगी। बटोही को डर लगने लगा। और सचमुच थोड़ी देर बाद उसने देखा--तीन डाकू उसी की ओर आ रहे हैं। वह तो भय से काँपने लगा। तीनों ने आकर उसे दबोच लिया और उसका सब कुछ लूट लिया। एक डाकू ने कमर से कटार निकाली। उसने कहा कि इसे जान से मार डालना चाहिए, अन्यथा यह जाकर पुलिस में खबर कर देगा। और यह कह कर वह कटार बटोही के पेट में घोंपना ही चाहता था कि दूसरे डाकू ने उसका हाथ पकड़ लिया। कहा, "क्यों नाहक अपना हाथ इसके खून से रँगते हो, चलो इसे यहीं बाँधकर डाल दें। जंगली जानवर खा

लेंगे या फिर स्वयं भूख-प्यास से छटपटाकर मर जायगा।" बटोही को जंगल में बाँधकर डाल दिया गया और डाकू चले गये। बटोही अपनी मृत्यु की घड़ियाँ गिनने लगा। बहुत रात बीतने पर उसने सूखे पत्तों पर किसी की पद-चाप सुनी। देखा कि कोई उसी की ओर आ रहा है। पास आकर उस व्यक्ति ने कहा, "भाई, मुझे माफ करना। मैं तीसरा डाकू हूँ। मैं नहीं चाहता था कि तुम्हें इस प्रकार बाँधकर जंगल में फेंक दिया जाय। पर मैं लाचार था। दोनों के सामने मेरी क्या चलती? अभी चुप चुप आया हूँ। तुम्हारे बन्धन खोले देता हूँ। चलो, तुम्हें रास्ता बता देता हूँ।" और यह कह उसने बटोही का बन्धन खोल दिया। उसे पीछे पीछे आने का इशारा कर वह जंगल से पार आया और एक रास्ता दिखाकर बटोही से बोला, "देखो यह तुम्हारे गाँव का रास्ता है, यहाँ से सीधे चले जाओ।" बटोही उसके पैरों पर गिर पड़ा, बोला, "तुमने मेरे प्राण बचाये हैं, तुम्हारे ऋण से मैं कैसे उऋण होऊँ? तुम यदि कृपा करके मेरे घर तक चलते तो यथाशक्ति तुम्हारी सेवा करता।" "नहीं, नहीं," डाकू बोला, "मैं यहीं तक आ सकता हूँ, इसके आगे मेरी गति नहीं। बस, यहीं से विदा।"

यह कथा सुनाकर श्रीरामकृष्ण कहते हैं--यह बटोही है जीव, जो संसार-अरण्य में भटक जाता है। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के तीन डाकू उस पर आक्रमण कर उसका सब कुछ छीन लेते हैं। तमोगुण तो उसे मार

ही डालना चाहता है, पर रजोगुण कहता है---मारकर क्या लाभ ? इसे बाँधकर रख दो, यह अपने आप मर जायगा। किन्तु सत्त्वगुण चुपके से आकर उसके बन्धन को काट देता है और उसे संसार-अरण्य से पार कर उसके लक्ष्य--भगवान्—तक जाने का रास्ता बता देता है। पर सत्त्वगुण भी भगवान् तक जीव को नहीं ले जा सकता, क्योंकि संसार-अरण्य ही उसकी सीमा है।

तो, ये गुण हैं, जो जीव को संसार में बाँधकर रखते हैं। इसलिए मोक्षकामी को, सत्य का साक्षात्कार करने वाले साधक को इन तीनों गुणों से क्रमशः ऊपर उठना पड़ता है। ऊपर उठने के इन सोपानों की चर्चा हम पहले कर ही चुके हैं। भर्तृहरि अपने एक श्लोक में चार प्रकार के पुरुष बताते हैं--

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृताः स्वार्थाविरोधेन ये॥
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

--एक तो 'सत्पुरुष' होते हैं, जो अपने स्वार्थ का त्याग कर दूसरों का हित सम्पादित करते हैं। दूसरी कोटि के होते हं 'सामान्य पुरुष', जो वहीं तक दूसरों का हित करते हैं, जहाँ तक उनके स्वयं के स्वार्थ को आँच नहीं आती। तीसरे होते हैं 'मानवराक्षस', जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का हित नष्ट करते हैं। उन चौथों को क्या नाम दूँ, जो अकारण ही दूसरों के हित पर चोट पहुँचाते हैं ?

जो चौथी कोटि है, उसे तमोगुणप्रधान माना जा सकता है। तीसरी कोटि में रजोगुण की प्रधानता है, पर साथ ही तमोगुण की गन्ध है। दूसरी कोटि में भी रजोगुण की प्रधानता है, पर यहाँ सत्त्वगुण की महक है। पहली कोटि में तो सत्त्वगुण की ही प्रधानता है। यही क्रम है, जिसके द्वारा हम तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण में आते हैं। हममें से अधिकांश यदि चौथी कोटि के न हों, तो 'मानवराक्षस' अवश्य हैं। हमें ऊपर उठकर 'सामान्यपुरुष' बनना है और उससे भी उठकर 'सत्पुरुष' की श्रेणी में आना है। यही सत्त्वगुण में स्थिति है, जिसे श्रीभगवान् ने 'नित्यसत्त्वस्थ' कहकर पुकारा है। इन सोपानों पर एक के बाद एक आरोहण के लिए हमें वेदों की आवश्यकता है, और जब हम 'नित्यसत्त्वस्थ' हो गये, तब वेदों के कर्मकाण्ड का प्रयोजन नहीं रह जाता। यदि हम तब भी वैदिक कर्मों को बलपूर्वक पकड़े रहें, तो हम अपने को मानो एक सोपान से बाँधकर रख लेंगे। सोपान इसलिए नहीं हैं कि हम अपने पैरों को उनसे बाँध लें, इसलिए हैं कि हम उन पर पैर रखकर उनसे ऊपर उठ जायँ। वेद हमारे ऊपर उठने के लिए ऐसे ही सोपानस्वरूप हैं।

हम पिछली चर्चा में कह चुके हैं कि वेद की मातृदृष्टि है, वह माता के समान अपनी सन्तानों की रुचि और पाचन-क्षमता देख भोजन का विधान करता है। यदि घोर तमोगुणी के लिए उसमें 'श्येनयाग' का विधान

है, तो उच्च सत्त्वगुणी के लिए उसके ज्ञानकाण्ड के रूप में उपनिषद् की अनुभूतियाँ हैं, और जो कामनाप्रधान बहुसंख्य रजोगुणी लोग हैं, 'वेद' नामधेय सारा कर्मकाण्ड उन्हीं के लिए है। यह वेदों का अधिकार-भेद है--जो जिसके लायक है, उसे वही दो। किसी प्रकार व्यक्ति को अपनी ओर खींचो तो सही, एक बार यदि वह आकर्षित हो गया, तो धीरे धीरे उसे ऊपर उठाने की व्यवस्था हो सकती है--यह वेदों की दृष्टि है। इस दृष्टि से जब हम वेदोक्त 'श्येनयाग' को देखते हैं, तब उसका प्रयोजन समझ पाते हैं। 'श्येनयाग' शत्रुओं के उच्छेदन के लिए की जाने वाली एक वैदिक क्रिया है। ऊपर से देखने पर तो यहीं लगता है कि ऐसी निम्न क्रिया का वेद से क्या सम्वन्ध? स्वयं पूर्वमीमांसा में यह विचार हुआ है कि ऐसे कर्म को धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह कोई पुरुषार्थरूप नहीं है। पर जब हम गहराई से इस पर चिन्तन करते हैं, तब लगता है कि वेददृष्टि कितनी पैनी और सुदूरगामी है। वेद का तात्पर्य यह है कि तमोगुणी व्यक्ति तो धर्म की ओर झुकना ही नहीं चाहता, पर उसे उठाना भी आवश्यक है। अतः क्या किया जाय? तमोगुणी को मारण-तारण आदि निम्न कार्यों में ही रुचि रहती है। ठीक है, उसे वही दो। उसके लिए तो वह वेद के पास आएगा और जब देखेगा कि वेद ने उसकी तामसी रुचि को सन्तुष्ट करने के लिए 'श्येनयाग' जैसे जो उपाय बताये हैं, वे सफल होते हैं, तो वेद पर उसकी श्रद्धा बढ़ेगी।

इस श्रद्धा के कारण वह वेद के अन्यान्य उपदेशों पर भी ध्यान देने लगेगा। इस प्रकार आज जो सर्वथा शास्त्र-विमुख है, सम्भव है एक दिन वह धीरे धीरे धार्मिक बन जाए।

तो, वेदमाता का यह अपनी असमर्थ सन्तानों के प्रति कारुण्यपूर्ण दृष्टिकोण है। श्रीरामकृष्णदेव भी अपने अलग अलग शिष्यों के लिए उनकी क्षमता और रुचि देखकर अलग अलग व्यवस्था करते थे—जब नरेन्द्र आते तो 'अध्यात्म रामायण' या 'अष्टावक्र संहिता' जैसे गूढ़ ज्ञानपरक ग्रन्थ पढ़कर सुनने के लिए कहते; जब राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) आते, तो उनसे 'भागवत' जैसा भक्तिपरक ग्रन्थ सुनाने को कहते। जब लाटू (स्वामी अद्भुतानन्द) को पंचवटी में ध्यान करते देखते, तो कहते, "अरे लेटो, तू जिसका ध्यान कर रहा है, वह † तो रसोई में चूल्हा फूँक रही है, जा उसकी सहायता कर!" इसी प्रकार वेदमाता भी अपनी सन्तानों की सामर्थ्य देख अलग अलग व्यवस्था करती है। यही वेद का अधिकारीवाद है। पर बाद में इस अधिकारीवाद का लोगों ने मनमाना अर्थ लगाया और यहाँ तक कहा कि 'यदि शूद्र वेद सुन ले, तो उसके कानों में पिघला हुआ शीशा डाल दो,' 'नारी को वेदपाठ और उपनयन का अधिकार नहीं है,' आदि आदि। ये हमारी कमजोरियाँ थीं कि हमने अधिकारीवाद के नाम पर ऐसा शोषण किया और वेद के अर्थ का अनर्थ किया। इसके लिए वेद दोषी नहीं, हम दोषी हैं। अधि-

† श्रीरामकृष्ण का तात्पर्य अपनी सहधर्मिणी सारदादेवी से था।

कारीवाद तो व्यक्ति की प्रकृति के अनुकूल साधना की व्यवस्था करने का एक सक्षम उपाय था।

एक शहर में दो वैद्य आये। एक के पास केवल एक ही नुस्खा था। जो भी उसके पास आता, विना उसके रोग की जाँच किये वह वही नुस्खा दे देता। किसी को लाभ मिल जाता, तो किसी को नहीं। जब कोई शिकायत करने के लिए आता, तो वैद्य कहता—'भई, हमारे पास तो बस यही औषधि है, लेते जाओ, लेते लेते कभी कुछ हो ही जायगा!' ऐसे वैद्य के सम्बन्ध में किसी कवि ने लिखा है—

यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केनापि पेपितम्।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति ॥

—'जिस किसी वृक्ष की जड़ ले लो। उसे जिस किसी के साथ मिलाकर पीस लो। वह चूर्ण जिस किसी को दे दो। कुछ तो हो ही जायगा!' और जो दूसरा वैद्य था, वह प्रत्येक की नाड़ी देखता, अलग अलग रोगों की परीक्षा करता और रोग के अनुसार दवा देता। स्वाभाविक ही इस दूसरे वैद्य के पास रोगी अधिक आएँगे। वेद इस दूसरे वैद्य के समान हैं। वे सबके उपकार का विधान करते हैं।

पर मनुष्य का कर्तव्य है कि वह जितना ऊँचा जाय, वहीं पर न रुक जाय, बल्कि वहाँ से और भी ऊपर जाने की कोशिश करे, नीचे न आये। इसी आशय से भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "वेद तो तीनों गुणोंवाले पुरुषों के लिए हैं, किन्तु तू बड़ा बुद्धिमान है; अर्जुन! तुझमें

इन तीनों गुणों से ऊपर उठने की क्षमता है, अतः तू विचारपूर्वक इस त्रिगुणसमुदाय से ऊपर उठ जा। देख, त्रिगुण प्रकृति का धर्म है, आत्मा का नहीं। आत्मा को पाना ही तेरा लक्ष्य है। उस ओर मुड़, त्रिगुणात्मक प्रपंच से ऊपर उठ निस्त्रैगुण्य बन जा।"

भगवान् ने और चार विशेषण लगाये--अर्जुन से कहा कि तू 'निर्द्वन्द्व', 'नित्यसत्त्वस्थ', 'निर्योगक्षेम' और 'आत्मवान्' बन। 'निर्द्वन्द्व' द्वन्द्वों से रहित होने की स्थिति है। 'द्वन्द्व' यानी जोड़ा। संसार में दो प्रकार के द्वन्द्व अर्थात् जोड़े हैं। एक है 'सपक्ष-द्वन्द्व' यानी परस्पर सम्बन्धी वृत्तियों के जोड़े--जैसे, अहंता-ममता, लोभ-मोह, काम-क्रोध, मद-मात्सर्य, आदि। दूसरा है 'प्रतिपक्ष-द्वन्द्व' यानी परस्पर विरुद्ध वृत्तियों के जोड़े--जैसे, सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान, आदि। ये सब जोड़े प्रकृति के ही गुणों के प्रपच हैं। ये द्वन्द्व मनुष्य को बांध देते हैं। द्वन्द्वों से वही रहित हो सकता है, जो त्रिगुणात्मक प्रकृति से ऊपर उठ 'निस्त्रैगुण्य' हो जाता है।

पर निर्द्वन्द्व और निस्त्रैगुण्य होने का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य जड़ या पागल के समान हो जाय। कोई कह सकता है कि पागल भी तो निर्द्वन्द्व और निस्त्रैगुण्य होता है, उसे भी योगक्षेम की कोई परवाह नहीं होती, तो क्या अर्जुन को पागल हो जाने का उपदेश दिया जा रहा है? नहीं, ऐसी बात नहीं; तभी तो भगवान् एक शब्द और लगा देते हैं--'नित्यसत्त्वस्थ'। वे अर्जुन को सदैव सत्त्व

में स्थित रहने के लिए कहते हैं। 'निस्त्रैगुण्य' कहने से यह ध्वनि निकलती है कि व्यक्ति को तीनों गुणों से अतीत हो जाना है। यदि ऐसा है, तो फिर त्रिगुणातीत व्यक्ति रहेगा कैसे ? भोजनादि क्रिया करेगा कैसे ? तब तो वह संसार में रह नहीं सकता, क्योंकि संसार त्रिगुणात्मक है। तो क्या 'निस्त्रैगुण्य' आकाशकुसुम के समान एक अवास्तविक अवस्था है ? यदि ऐसा है, तो श्रीभगवान् का कथन ही अर्थहीन हो जाता है। इस शंका को दूर करने के लिए भी 'नित्यसत्त्वस्थ' का विशेषण लगाना आवश्यक था। 'नित्यसत्त्वस्थ' का तात्पर्य है 'सर्वदा सत्त्वगुण में निवास करना'। अत: 'निस्त्रैगुण्य' का अर्थ हुआ--तमोगुण और रजोगुण को छोड़कर सत्त्वगुण मे स्थित रहनेवाला। यदि 'निस्त्रैगुण्य' का अर्थ सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों को छोड़ना होता, तब तो 'नित्यसत्त्वस्थ' कहना अर्थहीन हो जाता, क्योंकि सत्त्व भी तो आखिर तीन गुणों में से ही एक है। अत: इन दोनों शब्दों का अर्थ समझने के लिए हमें दोनोंको एक ही साथ लेना होगा, अलग अलग नहीं।

आचार्य शंकर इस श्लोक पर अपने भाष्य में 'निस्त्रैगुण्यो भव' का अर्थ 'निष्कामो भव' करते हैं--निस्त्रैगुण्य यानी निष्काम। अर्थात्, 'अर्जुन, तू स्वार्थ की कामना छोड़ दे, स्वार्थ से ऊपर उठ जा।' 'नित्यसत्त्वस्थ' का अर्थ वे 'सदासत्त्वगुण-आश्रित' करते हैं। अत: सब प्रकार की विवेचना से यह सिद्ध हुआ कि सत्त्वगुण का त्याग करना इस श्लोक का अभीष्ट नहीं है। उसके त्याग से

तो उच्च अवस्था ही नहीं बन सकती, फिर 'निस्त्रैगुण्य' की अवस्था कैसे सधेगी ? अतः सत्त्वगुण में स्थिति ही श्लोक का अभिप्रेत अर्थ है। सत्त्वगुण में स्थित होने से बुद्धि स्थिर होती है। इसी को व्यवसायात्मक बुद्धि भी कहा है।

कुछ लोगों ने सत्त्व का अर्थ 'धैर्य' किया है। द्वन्द्वों को सहने के लिए धैर्य का होना आवश्यक है। पर यह धैर्य भी वस्तुतः सत्त्वगुण का ही एक कार्य है। अतः अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कुछ दूसरे कहते हैं कि आगम-शास्त्र में तीन गुण तो प्रकृति के माने गये हैं, पर इनसे भी ऊपर एक 'नित्यसत्त्व' है, जो कि शिव या ईश्वर का स्वगतधर्म है, जिसके अनुसार ईश्वर सृजन करता है। प्रस्तुत श्लोक में 'नित्यसत्त्वस्थ' से भगवान् का यही अभिप्राय है कि तीनों गुणों से ऊपर उठकर उस भगवत्-तत्त्व के अन्तर्गत सत्त्व में चले जाओ।

इसके बाद विशेषण लगाया 'निर्योगक्षेम'--योगक्षेम से मुक्त। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को 'योग' कहते हैं तथा प्राप्त वस्तु के संरक्षण को 'क्षेम'। जो योगक्षेम की चिन्ता में लगा है, वह 'निस्त्रैगुण्य' कैसे हो सकता है ? योग और क्षेम तो त्रिगुणात्मक संसार की बातें हैं। उनमें लगा रहनेवाला व्यक्ति 'निस्त्रैगुण्य' होना तो दूर रहे, न 'निर्द्वन्द्व' हो सकता है, न 'नित्यसत्त्वस्थ'। अतः कहा गया कि योगक्षेम की भी चिन्ता न करो। जो कुछ स्वतः प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तुष्ट रहो। दूसरे शब्दों में इसी को 'यदृच्छालाभ-सन्तुष्ट' कहते हैं। यही कर्मयोग का चरम

लक्ष्य है, और ज्ञान का भी। सब कुछ भगवान् पर सौंप दिया जाता है। जो शिशु के जन्म लेते ही माता के स्तनों में उसके लिए दूध भर देता है, वह क्या मेरा पालन नहीं करेगा, ऐसा दृढ़ विश्वास चाहिए। तभी मनुष्य योगक्षेम के तनाव से मुक्त हो सकता है। एक ओर तो अर्जुन अपने को ज्ञानी समझ रहा था और दूसरी ओर कहता था--'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'--'मैं इस लोक में भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करना अधिक अच्छा मानता हूँ।' भगवान् उसे दिखा देते हैं कि तेरा यह आदर्श ज्ञान का नहीं है। जहाँ ज्ञान है, वहाँ भिक्षा आदि उपायों की चिन्ता नहीं रहती। इसीलिए श्रीभगवान् उसे 'निर्योग-क्षेम' हो जाने का उपदेश देते हैं। यह 'निर्योगक्षेम' कोई निषेधात्मक स्थिति नहीं है, वह दृढ़ विश्वास से उपजने-वाली मन की एक विधेयात्मक वृत्ति है। इसमें ऐसा विश्वास रहता है कि जब एक सामान्य राजा भी किसी को कारावास में डालता है, तो उसके भोजन आदि का प्रबन्ध अवश्य कर देता है, तब फिर महाराजाओं के भी महाराज उस परमात्मा ने जब कर्मवश जीव को संसार-रूप कारागार में भेजा, तो वह उसके भोजन का प्रबन्ध कैसे न करेगा ?

इस सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है। शिवाजी किले पर किले बनवाते जा रहे थे, जिससे सैकड़ों लोगों को काम मिला था। एक दिन शिवाजी जब कार्य का निरी-क्षण कर रहे थे, तो उनके मन में अभिमान की एक हल्की सी लहर उठी कि मैं इतने लोगों का पालन कर रहा हूँ।

इतने में उनके गुरु समर्थ रामदास वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने शिवाजी की भावना ताड़ ली। उन्होंने शिवाजी से सामने की शिला तुड़वाने के लिए कहा। देखा गया कि शिला के भीतर थोड़ी सी मिट्टी है, वहाँ एक छोटी सी मेंढकी बैठी हुई है तथा पास ही चुल्लू भर जल भी है। समर्थ बोले, "शिवा, बता तो सही इस मेंढकी को यह जल किसने पहुँचाया ?" शिवाजी गुरु के चरणों पर गिर पड़े और प्रार्थना करने लगे कि ऐसा दुर्भाव उनके मन में कभी पैदा न हो।

तात्पर्य यह है कि भगवान् ही सबका पोषण करते हैं। अतः साधक को योग और क्षेम की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए। तब प्रश्न होता है कि साधक फिर क्या लेकर रहे ? वह त्रिगुणों से अतीत हो जाए, निर्द्वन्द्व हो जाए, निर्योगक्षेम हो जाए, तो रहे किसको लेकर ? भगवान् कहते हैं—आत्मा को लेकर—'आत्मवान्'। अर्जुन, तू आत्मवान् बन। शंका हो सकती है कि क्या हम आत्मवान् नहीं हैं ? प्रत्येक प्राणी ही तो आत्मावाला है, तब फिर 'आत्मवान्' बनने के उपदेश का क्या अर्थ ? तात्पर्य यह है कि हम आत्मवान् होते हुए भी आत्मा के अस्तित्व का अनुभव नहीं करते। आत्मा हमें या तो देह के रूप में दिखायी पड़ती है, या मन के। देह-मन से भिन्न आत्मा की प्रतीति हम नहीं कर पाते। इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्णदेव का वह डाब (कच्चा नारियल) वाला उदाहरण स्मरणीय है। जब तक नारियल कच्चा होता है, उसमें

रस भरा होता है, तब तक उसका गूदा छिलके के साथ एक रूप हो गया रहता है। पर जब रस सूख जाता है, तो उसका भेला नरेली से स्वयं अलग हो जाता है तथा हिलाने पर गड़-गड़ आवाज करता है। इसी प्रकार अभी हमारे भीतर वासना-रस भरा हुआ है, इसीलिए आत्मा देह-मन रूपी छिलक के साथ एकरूप दिखायी देती है। जब ज्ञान की आग में वासना-रस औंटकर सूख जायगा, तो आत्मारूपी भेला इस देह-मनरूपी नरेली से अलग हो जायगा और अपनी प्रतीति करा देगा।

शंकराचार्य 'आत्मवान्' का अर्थ 'अप्रमत्त' करते हैं। जो देह और मन को ही आत्मा समझे बैठा है, वह प्रमादी है।

इस प्रकार अर्जुन के मिस भगवान् हम सबको उपदेश देते हैं कि वेद तीनों गुणों के व्यापार में ही संलग्न हैं, अतः हम निस्त्रैगुण्य बनें। इसके लिए हमें द्वन्द्वों से ऊपर उठना पड़ेगा और सत्त्वगुण में स्थित होना होगा। इसे साधने के लिए योगक्षेम की चिन्ता भगवान् पर छोड़ देनी होगी और आत्मा की प्रतीति के द्वारा आत्मबल को जगाना होगा। शान्ति पाने का यही सच्चा उपाय है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि वेद त्रैगुण्य विषयक हैं और जीवन की धन्यता निस्त्रैगुण्यता में है, तो क्या वेदों का कोई प्रयोजन नहीं? यदि है, तो कितना है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण अगले श्लोक में देते हैं, जिस पर चर्चा हम अगली बार करेंगे।

●

प्रश्न—कहावत है—'जैसा अन्न वैसा मन'। फिर भारतीय मनोविज्ञान यह भी कहता है कि मन के अनुरूप शरीर की रचना होती है। ये दोनों आपात्-विरोधी सिद्धान्त मालूम पड़ते हैं। इनमें सत्य कौन है ?

—रमेशप्रसाद नायक, जबलपुर

उत्तर—वैसे दोनों ही सिद्धान्त अपनी अपनी जगह ठीक हैं। हम जिस प्रकार का भोजन करते हैं, हमारी मानसिकता पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। सात्त्विक जीवन बिताने के लिए तदनुरूप भोजन से बड़ी सहायता मिलती है। अतः यह कहना युक्तियुक्त है कि भोजन के अनुरूप हमारा मन बना करता है। साथ ही यह भी सत्य है कि हमारे मन के भाव शरीर पर अनुरूप क्रिया करते हैं। मन में क्रोध हो, तो शरीर के अंग तदनुरूप फड़कने लगते हैं। यदि मन में शान्ति हो, तो हमारे अंग-प्रत्यंग से इस शान्ति का विकिरण होता है। मन का तीव्र आवेग शरीर के लक्षणों को भी बदल देता है, इसके उदाहरण हमें श्रीरामकृष्णदेव के जीवन में दिखायी देते हैं। अतः यह कथन भी सही है कि मन की भावना के अनुरूप शरीर की रचना होती है। दोनों सिन्द्धात अन्योन्याश्रित हैं।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह - १९७८

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द जी का ११६ वाँ जयन्ती-महोत्सव आश्रम के प्रांगण में २८ जनवरी १९७८ से लेकर १९ फरवरी १९७८ तक निम्नांकित कार्यक्रम के अनुसार मनाया जा रहा है। समारोह का उद्घाटन रविवार, ५ फरवरी १९७८ को मध्यप्रदेश के राज्यपाल, **महामहिम श्री एन. एन. वांचू महोदय** के द्वारा सम्पन्न होगा। कार्यक्रम सबके लिए खुला है।

कार्यक्रम

★ शनिवार, २८ जनवरी. सायंकाल ६ बजे।

अन्तर्महाविद्यलयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :– "इस सदन की राय में मानवता को एक सूत्र में बाँधने के लिए राजनैतिक चेतना की अपेक्षा आध्यात्मिक चेतना कहीं अधिक कारगर सिद्ध हो सकती है।"

★ रविवार, २९ जनवरी सुबह ८॥ बजे।

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

★ रविवार, २९ जनवरी सायंकाल ६ बजे।

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"सर्वधर्मसमभाव के सन्देशवाहक स्वामी विवेकानन्द"

★ सोमवार, ३० जनवरी सायंकाल ६ बजे।

माध्यमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

(प्रथम दो श्रेष्ठ प्रतियोगियों को व्यक्तिगत पुरस्कार)

★ मंगलवार, ३१ जनवरी ★

स्वामी विवेकानन्द जन्म-तिथि उत्सव

मंगल आरती, प्रार्थना, ध्यान . . प्रातः ५॥ से ६॥ बजे तक।
विशेष पूजा, हवन एवं आरती . . सुबह ७॥ से १२ बजे तक।
सान्ध्य आरती . . सायंकाल ६ बजे।

★ मंगलवार, ३१ जनवरी सायंकाल ६ बजे।

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता
(रनिंग शील्ड)

विषय :–"देशभक्त विवेकानन्द"

★ बुधवार, १ फरवरी सायंकाल ६ बजे।

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता
(रनिंग शील्ड)

विषय :–"इस सदन की राय में आज सिनेमाघर की अपेक्षा खेल के मैदान की कहीं अधिक आवश्यकता है।"

★ गुरुवार, २ फरवरी सायंकाल ६ बजे।

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता
(रनिंग शील्ड)

विषय:–"निर्भयता की जीती-जागती प्रतिमा स्वामी विवेकानन्द"

★ शुक्रवार, ३ फरवरी – सायंकाल ६ बजे।

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता
(रनिंग शील्ड)

विषय :–"इस सदन की राय में देश की आर्थिक उन्नति के लिए बड़े उद्योगों की अपेक्षा लघु उद्योग अपेक्षाकृत अधिक सहायक हो सकते हैं।"

★ शनिवार, ४ फरवरी सायंकाल ६ बजे।

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता
(रनिंग शील्ड)

★ रविवार, ५ फरवरी सायंकाल ६ बजे।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

प्रमुख अतिथि : महामहिम श्री एन. एन. वांचू, राज्यपाल, म.प्र.

विषय :–"रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की विशिष्टता"

★ ६ फरवरी से १५ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ६॥ बजे।

रामायण-प्रवचन

प्रवचनकार : पं. रामकिंकरजी महाराज

(भारत के सुविख्यात रामायणी)

★ १६ फरवरी से १९ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ६॥ बजे।

रामायण एवं आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवचनकार : (१) **श्रीमती कृष्णादेवी मिश्र,** भागलपुर

(२) **बालयोगी विष्णु अरोड़ा** (१४वर्षीय बालक)

(१८ एवं १९ फरवरी को)

• ○ ○

श्रीमाँ सारदा देवी का १२५ वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि पूजा (मंदिर में कार्यक्रम) **रविवार, १ जनवरी १९७८**

मंगलारती, प्रातःवन्दना और ध्यान – प्रातः ५॥ से ६॥ बजे

विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती – प्रातः ७॥ से १२ बजे

सान्ध्य आरती, प्रार्थना और भजन – सायं ६॥ से ८ बजे

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा (सत्संग भवन में)

सायंकाल ५ से ६॥ बजे तक

○ • ○

श्रीरामकृष्ण देव का १४३ वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि पूजा (मन्दिर में कार्यक्रम) **शुक्रवार, १० मार्च १९७८**

मंगलारती, प्रातःवन्दना और ध्यान – प्रातः ५॥ से ६॥ बजे

विशेष पूजा, भजन, हवन, आरती – प्रातः ७॥ से १२ बजे

सान्ध्य आरती, प्रार्थना और भजन – सायं ६॥ से ८ बजे

जन्मोत्सव सार्वजनिक सभा (सत्संग भवन में)

रविवार, १२ मार्च १९७८ – सन्ध्या ५॥ बजे से